तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग–२

(श्री वीतराग–विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड द्वारा निर्धारित)

सम्पादक :
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.
ए–४, बापूनगर, जयपुर–३०२०१५

प्रकाशक :
मगनमल सौभागमल पाटनी फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई
एवं
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए–४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५ (राज.)

हिन्दी :
प्रथम सात संस्करण : २४ हजार ४००
(२५ जनवरी १९७४ से अद्यतन)
अष्टम संस्करण : २ हजार
(१५ अगस्त, २००५)
अंग्रेजी :
प्रथम संस्करण : ३ हजार
गुजराती :
प्रथम संस्करण : २ हजार १००

योग : ३१ हजार ५००

मूल्य : पाँच रुपए

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम,
जयपुर

विषय–सूची

क्र.	नाम पाठ	लेखक	पृष्ठ
१.	**महावीराष्टक स्तोत्र**	स्वर्गीय पंडित भागचंदजी	४
२.	**शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति**	श्री नेमीचन्दजी पाटनी, आगरा	८
३.	**पुण्य और पाप**	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर	१५
४.	**उपादान–निमित्त**	पं. रतनचन्दजी भारिल्ल, विदिशा	२३
५.	**आत्मानुभूति और तत्त्व विचार**	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर	२९
६.	**षट्कारक**	पं. खीमचंद जेठालाल शेठ, सोनगढ़	३३
७.	**चतुर्दश गुणस्थान**	सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्दजी, वाराणसी	४१
८.	**तीर्थंकर भगवान महावीर**	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर	५२
९.	**देवागम स्तोत्र (आप्त मीमांसा)**	तार्किकचक्रचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र	६२

पाठ १

महावीराष्टक स्तोत्र

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचिताः
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिताः।
जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिक यो
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।१।।

अताम्रं यच्चक्षुः कमलयुगलं स्पन्दरहितम्।
जनान्कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि।।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।२।।

नमन्नाकेन्द्रालीमुकुटमणिभाजालजटिलं,
लसत्पादाम्भोजद्वयमिह यदीयं तनुमृताम्।
भवज्वालाशान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।३।।

यदर्च्चाभावेन प्रमुदितमनाद्र्दुर इह,
क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधिः।
लभंते सद्भक्ताः शिवसुख समाजं किमुतदा
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।४।।

महावीराष्टक स्तोत्र

सामान्यार्थ

जिस प्रकार सम्मुख पदार्थ दर्पण में झलकते हैं, उसी प्रकार जिनके केवलज्ञान में समस्त जीव-अजीव अनन्त पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित युगपत् प्रतिभासित होते रहते हैं; तथा जिस प्रकार सूर्य लौकिक मार्गों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाले जो जगत के ज्ञाता-दृष्टा हैं; वे भगवान महावीर मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें।।१।।

स्पन्द (टिमकार) और लालिमा रहित जिनके दोनों नेत्र कमल मनुष्यों को बाह्य और अभ्यंतर क्रोधादि विकारों का अभाव प्रगट कर रहे हैं और जिनकी मुद्रा स्पष्ट रूप से पूर्ण शान्त और अत्यन्त विमल है, वे भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें ।।२।।

नम्रीभूत इन्द्रों के समूह के मुकुटों की मणियों के प्रभाजाल से जटिल (मिश्रित) जिनके कान्तिमान दोनों चरणकमल, स्मरण करने मात्र से ही, शरीरधारियों की सांसारिक दुःख-ज्वालाओं का जल के समान शमन कर देते हैं; वे भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें।।३।।

जब पूजा करने के भाव मात्र से प्रसन्नचित्त मेंढ़क ने क्षण भर में गुण-गणों से समृद्ध सुख की निधि स्वर्गसम्पदा को प्राप्त कर लिया, तब यदि उनके सद्भक्त मुक्ति-सुख को प्राप्त करलें तो कौनसा आश्चर्य है अर्थात् उनके सद्भक्त अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त करेंगे। वे भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें।।४।।

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगततनुर्ज्ञाननिवहो
विचित्रात्माप्येको नृपतिवरसिद्धार्थतनयः।
अजन्मापि श्रीमान् विगतभव रागोद्भुतगतिः
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।५।।

यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला,
वृहज्ज्ञानांमोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।६।।

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः,
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः।
स्फुरन्नित्यानन्दप्रशमपदराज्याय स जिनः,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।७।।

महामोहांतकप्रशमनपराकस्मिकभिषग्
निरापेक्षो बंधुर्विदितमहिमा मंगलकरः।
शरण्यः साधूनां भवभयमृतामुत्तमगुणो
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।८।।

महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम्।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ।।९।।

जो अंतरंग दृष्टि से ज्ञानशरीरी (केवलज्ञान के पुञ्ज) एवं बहिरंग दृष्टि से तप्त स्वर्ण के समान आभामय शरीरवान होने पर भी शरीर से रहित हैं; अनेक ज्ञेय उनके ज्ञान में झलकते हैं - अतः विचित्र (अनेक) होते हुए भी एक (अखण्ड) हैं; महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र होते हुए भी अजन्मा हैं; और केवलज्ञान तथा समवशरणादि लक्ष्मी से युक्त होने पर भी संसार के राग से रहित हैं। इस प्रकार के आश्चर्यों के निधान वे भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें।।५।।

जिनकी वाणीरूपी गंगा नाना प्रकार के नयरूपी कल्लोलों के कारण निर्मल है और अगाध ज्ञानरूपी जल से जगत की जनता को स्नान कराती रहती है तथा इस समय भी विद्वज्जनरूपी हंसों के द्वारा परिचित हैं, वे भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें।।६।।

अनिर्वार है वेग जिसका और जिसने तीन लोकों को जीत लिया है, ऐसे कामरूपी सुभट को जिन्होंने स्वयं आत्म-बल से कुमारावस्था में ही जीत लिया है, परिणामस्वरूप जिनके अनन्तशक्ति का साम्राज्य एवं शाश्वतसुख स्फुरायमान हो रहा है; वे भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें।।७।।

जो महा मोहरूपी रोग को शान्त करने के लिए निरपेक्ष वैद्य हैं, जो जीव मात्र के निःस्वार्थ बन्धु हैं, जिनकी महिमा से सारा लोक परिचित है, जो महामंगल के करने वाले हैं, तथा भव-भय से भयभीत साधुओं को जो शरण हैं; वे उत्तम गुणों के धारी भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे (हमें) दर्शन दें।।८।।

जो कविवर भागचंद द्वारा भक्तिपूर्वक रचित इस महावीराष्टक स्तोत्र का पाठ करता है व सुनता है, वह परमगति (मोक्ष) को पाता है।

प्रश्न -

१. कोई एक छन्द जो आपको रुचिकर हो, अर्थ सहित लिखिए।

पाठ २

शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति

पं. टोडरमल –

इस भव तरु का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताको करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव ॥

इस संसाररूपी वृक्ष की जड़ एक मिथ्यात्व ही है। अतः उसको जड़-मूल से नष्ट करके ही मोक्ष का उपाय किया जा सकता है।

"जो जीव जैन हैं, जिन-आज्ञा को मानते हैं, उनके भी मिथ्यात्व क्यों रह जाता है?" हमें आज यह समझना है, क्योंकि मिथ्यात्व का अंश भी बुरा है और सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।

दीवान रतनचंद – जो जीव जैन हैं, और जिन-आज्ञा को मानते हैं, फिर उनके मिथ्यात्व कैसे रह जाता है? जिनवाणी में तो मिथ्यात्व की पोषक बात नहीं है।

पं. टोडरमल – ठीक कहते हो। जिनवाणी में तो मिथ्यात्व की पोषक बात नहीं है। पर जो जीव जिनवाणी के अर्थ समझने की पद्धति नहीं जानते, वे उसके मर्म को तो समझ नहीं पाते। अपनी ही कल्पना से अन्यथा समझ लेते हैं, अतः उनका मिथ्यात्व नहीं छूट पाता है।

दीवान रतनचंद – तो क्या जिनवाणी के अर्थ समझने की कोई पद्धति भी है?

पं. टोडरमल – क्यों नहीं? प्रत्येक काम करने और प्रत्येक बात समझने का अपना एक तरीका होता है। जब तक हम उस तरीके को न समझ लें तब तक कोई भी काम अच्छी तरह न तो कर ही सकते हैं और न कोई बात सही रूप में समझ ही सकते हैं।

दीवान रतनचंद – तो जिनवाणी के अर्थ समझने की पद्धति क्या है?

पं. टोडरमल – जिनवाणी में निश्चय-व्यवहार रूप वर्णन है। निश्चय-व्यवहार का सही स्वरूप न समझने के कारण सामान्यजन उसके मर्म को नहीं समझ पाते हैं। इसी प्रकार जिनवाणी को चार अनुयोगों की पद्धति में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक अनुयोग की अपनी-अपनी पद्धति अलग-अलग है। जब तक हम उस पद्धति को समझेंगे नहीं तो जिनवाणी को पढ़कर भी उसके मर्म को नहीं जान पावेंगे।

दीवान रतनचंद – कृपया आज हमें निश्चय-व्यवहार का स्वरूप और अनुयोगों की पद्धति के बारे में ही समझाइये।

पं. टोडरमल – निश्चय-व्यवहार[१] की बात तो विस्तार से कुछ दिन पूर्व ही समझा चुका हूँ तथा चार अनुयोगों[२] के बारे में भी एक दिन विस्तार से बताया था।

दीवान रतनचंद – हाँ ! उनकी सामान्य जानकारी तो हमें हैं, पर हम तो आज उन्हें शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति के संदर्भ में समझना चाहते हैं।

पं. टोडरमल – आपको निश्चय-व्यवहार का स्वरूप ज्ञात है तो बोलिए निश्चय किसे कहते हैं और व्यवहार किसे?

दीवान रतनचंद – "यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार" अथवा इसप्रकार भी कह सकते हैं कि "एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना निश्चय नय है और उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप वर्णन करना सो व्यवहार है।"

पं. टोडरमल – तब तो आपको यह भी मालूम होगा कि व्यवहार नय स्वद्रव्य परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; और निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है।

दीवान रतनचंद – हाँ! यह भी मालूम है।

पं. टोडरमल – अच्छा तो बताओ मनुष्य-तिर्यंच कौन हैं?

---

१. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३, पाठ ८

२. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २, पाठ ४

दीवान रतनचंद – जीव।

पं. टोडरमल – जीव?

दीवान रतनचंद – जिनवाणी में भी उन्हें जीव ही लिखा है।

पं. टोडरमल – हाँ भाई! जिनवाणी में व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोग रूप है, वहाँ निश्चय से जीव द्रव्य भिन्न है, उसको ही जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादि को भी उपचार से जीव कहा, सो कथन मात्र ही है; परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं।

इसी प्रकार अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किए, सो उन्हें भेद रूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के लिये किए हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है, उस ही को जीव-वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे, सो कथन मात्र ही है, परमार्थ से भिन्न-भिन्न है नहीं।

दीवान रतनचंद – तो इसी प्रकार व्रत-शील-संयमादि को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहाँ होगा?

पं. टोडरमल – परद्रव्य का निमित्त[१] मिटने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादि को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना, क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता हो जावे। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं। अतः आत्मा अपने रागादिक को त्याग कर वीतरागी होता है। निश्चय से वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है।

इसीलिये तो कहा था कि जब तक हम यह न पहिचान पाएँ कि जिनवाणी में जो कथन है उसमें कौन तो सत्यार्थ है और कौन समझाने के लिये व्यवहार से कहा गया है तब तक हम सबको एकसा सत्यार्थ मानकर भ्रम रूप रहते हैं।

दीवान रतनचंद – तो जिनवाणी में व्यवहार का कथन किया ही क्यों?

पं. टोडरमल – व्यवहार के बिना परमार्थ को समझाया नहीं जा सकता, अतः असत्यार्थ होने पर भी जिनवाणी में व्यवहार का कथन आता है।

१. पर (निमित्त) की ओर का लक्ष्य छुड़ाने के लिए

दीवान रतनचंद – व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं हो सकता?

पं. टोडरमल – निश्चय नय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभाव से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है, उसे जो नहीं पहिचानते उनसे इसी प्रकार कहते रहें तो वे समझ नहीं पावेंगे। अतः उन्हें समझाने हेतु व्यवहार से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारकादि रूप जीव के विशेष किए तथा मनुष्य जीव, नारकी जीव आदि रूप से जीव की पहिचान कराई। इसी प्रकार अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके समझाया। जैसे – जीव के ज्ञानादि गुण पर्याय रूप भेद करके स्पष्ट किया; जाने सो जीव, देखे जो जीव।

जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार व्यवहारी जनों को व्यवहार बिना निश्चय का ज्ञान नहीं कराया जा सकता है।

दीवान रतनचंद – तो हमें कैसा मानना चाहिए?

पं. टोडरमल – जहाँ निश्चय नय की मुख्यता से कथन हो, उसे तो ''सत्यार्थ ऐसे ही हैं'' ऐसा जानना और जहाँ व्यवहार नय की मुख्यता से कथन हो, उसे ''ऐसे हैं नहीं, निमित्त आदि की अपेक्षा उपचार किया है'' ऐसा जानना।

दीवान रतनचंद – व्यवहार नय पर को उपदेश देने में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है?

पं. टोडरमल – आप भी जब तक निश्चय नय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचानें तब तक व्यवहार मार्ग से वस्तु का निश्चय करे, अतः निचली दशा में अपने को भी व्यवहार नय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहार को उपचार मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझै तब तो कार्यकारी है, किन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर ''इस प्रकार ही है'' ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जावे।

इसी प्रकार चारों अनुयोगों के कथन को ठीक प्रकार से न समझने के कारण वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं समझ पाते हैं। अतः चारों अनुयोगों के व्याख्यान का विधान अच्छी तरह समझना चाहिए।

दीवान रतनचंद – प्रथमानुयोग के व्याख्यान के विधान को संक्षेप में समझाइये।

पं. टोडरमल – प्रथमानुयोग में संसार की विचित्रता, पुण्य–पाप का फल, महापुरुषों की प्रवृत्ति आदि बताकर जीवों को धर्म में लगाया जाता है। प्रथमानुयोग में मूल कथाएँ तो जैसी की तैसी होती हैं, पर उनमें प्रसंग–प्राप्त व्याख्यान कुछ ज्यों का त्यों और कुछ ग्रन्थकर्त्ता के विचारानुसार होता है, परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता। जैसे तीर्थंकरों के कल्याणकों में इन्द्र आए यह तो सत्य है, पर इन्द्र ने जैसी स्तुति की थी वे शब्द हूबहू वैसे ही नहीं थे, अन्य थे। इसी प्रकार परस्पर किन्हीं के वार्तालाप हुआ था सो उनके अक्षर तो अन्य निकले थे, ग्रन्थकर्त्ता ने अन्य कहे, पर प्रयोजन एक ही पोषते हैं।

तथा कहीं–कहीं प्रसंगरूप कथाएँ भी ग्रन्थकर्त्ता अपने विचारानुसार लिखते हैं। जैसे 'धर्म परीक्षा' में मूर्खों की कथाएँ लिखीं, सो वही कथा मनोवेग ने कही थी ऐसा नियम नहीं है, किन्तु मूर्खपणे को पोषण करने वाली कही थी।

तथा प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे विष्णुकुमारजी ने धर्मानुराग से मुनियों का उपसर्ग दूर किया। मुनि पद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था, परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है। इस छल से औरों को ऊंचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

पुत्रादिक की प्राप्ति के लिए अथवा रोग कष्टादिक को दूर करने के लिए स्तुति पूजनादि कार्य करना निकांक्षित अंग का अभाव होने से एवं निदान नामक आर्त्तध्यान होने से पाप बंध का कारण है, किन्तु मोहित होकर बहुत पाप बंध का कारण कुदेवादिक का सेवन तो नहीं किया, अतः उसकी प्रशंसा कर दी है। ऐसा छल करि औरों को लौकिक कार्यों के लिये धर्म साधन करना युक्त नहीं है।

दीवान रतनचंद – करणानुयोग के व्याख्यान का विधान क्या है?

पं. टोडरमल – करणानुयोग में केवलज्ञानगम्य वस्तु का व्याख्यान है, केवलज्ञान में तो सर्व लोकालोक आया है, परन्तु इसमें जीव को कार्यकारी छद्मस्थ के ज्ञान में आ सके ऐसा निरूपण होता है। जैसे – जीव के भावों की अपेक्षा गुणस्थान कहे हैं, सो भाव तो अनंत हैं, उन्हें तो वाणी से कहा नहीं जा सकता, अतः बहुत भावों की एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं।

तथा करणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यता सहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसी प्रकार नहीं मानना। जैसे छुड़ाने के अभिप्राय से हिंसादिक के उपाय को कुमतिज्ञान कहा। वास्तव में तो मिथ्यादृष्टि से सभी ज्ञान कुज्ञान है और सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सुज्ञान हैं।

दीवान रतनचंद – और चरणानुयोग में किस प्रकार का कथन होता है?

पं. टोडरमल – चरणानुयोग में जिस प्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो वैसा उपदेश दिया जाता है। इसमें व्यवहार नय की मुख्यता से कथन किया जाता है, क्योंकि निश्चय धर्म के तो कुछ ग्रहण–त्याग का विकल्प है ही नहीं। अतः इसमें दो प्रकार से उपदेश देते हैं, एक तो मात्र व्यवहार का और एक निश्चय सहित व्यवहार का। व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है, पर निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है।

दीवान रतनचंद – अकेले व्यवहार का उपदेश किसके लिए है, और निश्चय सहित व्यवहार का किसके लिए?

पं. टोडरमल – जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है तथा उपदेश देने पर भी होता दिखाई नहीं देता, उन्हें तो अकेले व्यवहार का उपदेश देते हैं; तथा जिन जीवों को निश्चय–व्यवहार का ज्ञान हो अथवा उपदेश देने पर होना संभव हो उन्हें निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। तथा चरणानुयोग में कहीं–कहीं कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप छुड़ाते हैं। जैसे – पाप का फल नरकादि दुःख दिखाकर भय कषाय उत्पन्न करके तथा पुण्य का फल स्वर्गादिक में सुख दिखाकर लोभ कषाय उत्पन्न करके धर्म कार्यों में लगाते हैं। इसी प्रकार शरीरादिक को अशुचि बताकर जुगुप्सा कषाय कराते हैं और पुत्रादिक को धनादि का ग्राहक बताकर द्वेष कराते हैं। पूजा, दान, नामस्मरणादि का फल पुत्र धनादि की प्राप्ति का लोभ बताकर धर्म कार्यों में लगाते हैं। इसप्रकार चरणानुयोग में व्याख्यान होता है। अतः उसका प्रयोजन जान कर यथार्थ श्रद्धान करना चाहिए।

दीवान रतनचंद – इसी प्रकार द्रव्यानुयोग की भी अपनी अलग पद्धति होती होगी?

पं. टोडरमल – क्यों नहीं? द्रव्यानुयोग में जीवों को जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान जिस प्रकार हो उस प्रकार विशेष युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादिक से

वर्णन करते हैं, क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है। जैसे स्व-पर भेद विज्ञान हो, वैसे जीव अजीव का; एवं जैसे वीतराग भाव हो, वैसे आस्रवादिक का वर्णन करते हैं; आत्मानुभव की महिमा गाते हैं एवं व्यवहार कार्य का निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में ही मग्न हैं, उनको वहाँ से उदास करके आत्मानुभव आदि में लगाने को व्रतशील संयमादि का हीनपना भी प्रगट करते हैं। शुभोपयोग का निषेध अशुभोपयोग में लगाने को नहीं करते हैं, किन्तु शुद्धोपयोग में लगाने के लिए करते हैं।

इस प्रकार चारों अनुयोगों की कथन पद्धति अलग-अलग हैं, पर सबका एक मात्र प्रयोजन वीतरागता का पोषण है। कहीं तो बहुत रागादि छुड़ाकर अल्प रागादि कराने का प्रयोजन पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि छुड़ाने का पोषण किया है, किन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं भी नहीं है। बहुत क्या कहें, जिस प्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो वही जानना सम्यग्ज्ञान है। तथा जिस प्रकार से रागादि मिटें वही आचरण सम्यक्चारित्र है। अतः प्रत्येक अनुयोग की पद्धति का यथार्थ ज्ञान कर जिनवाणी के रहस्य को समझने का यत्न करना चाहिए।

दीवान रतनचंद – शास्त्रों के अध्ययन में कहीं-कहीं परस्पर विरोध भासित हो तो क्या करें?

पं. टोडरमल – जिनवाणी में परस्पर विरोधी कथन नहीं होते हैं। हमें अनुयोगों की कथन पद्धति का एवं निश्चय-व्यवहार का सही ज्ञान नहीं होने से विरोध भासित होता है। यदि हमें शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति का ज्ञान हो जावे तो विरोध प्रतीत नहीं होगा। अतः सदा आगम-अभ्यास का प्रयास रखना चाहिए। मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगम ज्ञान कहा है। अतः तुम यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास किया करो! तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा !!

प्रश्न –

१. व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश क्यों नहीं हो सकता? स्पष्ट कीजिए।
२. क्या व्यवहार नय स्वयं के लिए भी प्रयोजनवान है? यदि हाँ, तो कैसे?
३. चारों अनुयोगों के व्याख्यान के विधान का वर्णन कीजिए।

पाठ ३

पुण्य और पाप

समस्त भारतीय दर्शनों में आत्मा-परमात्मा, बंध-मोक्ष और लोक-परलोक के साथ पुण्य-पाप भी बहुचर्चित विषय रहा है। पुण्य-पाप किसे कहते हैं और उनका मुक्ति के मार्ग में क्या स्थान है? इस विषय पर जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मीमांसा करना ही यहाँ विचारणीय विषय है।

आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर आज तक जैन साहित्य के हर युग में पुण्य-पाप मीमांसा होती रही है। आज भी यह चर्चा का मुख्य विषय है। विवाद पुण्य-पाप की परिभाषा के सम्बन्ध में न होकर मुक्ति-मार्ग में उसके स्थान को लेकर है।

पुण्य और पाप दोनों आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तियाँ हैं। देवपूजा, गुरूपासना, दया, दान, व्रत, शील, संयमादि के प्रशस्त परिणाम (शुभभाव) पुण्य भाव कहे जाते हैं और इनका फल अनुकूल संयोगों की प्राप्ति है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-संचय आदि के भाव पाप भाव हैं और इनका फल प्रतिकूलताएँ हैं।

सामान्य-जन पुण्य को भला और पाप को बुरा मानते हैं, क्योंकि मुख्यतः पुण्य से मनुष्य व देव गति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक व तिर्यंच गति की। पर उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि चारों गतियाँ संसार ही हैं, दुःख-रूप ही हैं। चारों गतियों में दुःख ही दुःख है, सुख किसी भी गति में नहीं है। पंडित दौलतरामजी ने छहढाला की पहली ढाल में चारों गतियों में दुःख ही दुःख बताया है। इस प्रकार वैराग्य-भावना में साफ-साफ लिखा है :-

जो संसार विषैं सुख हो तो, तीर्थंकर क्यों त्यागैं।
काहे को शिवसाधन करते, संजम सों अनुरागैं।।

श्रमण संस्कृति के प्रतिष्ठापक महान आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप दोनों को संसार का कारण बताकर उनके प्रति राग और संसर्ग करने का स्पष्ट निषेध किया है। उनका कथन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :-

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।।१४५ ।।
सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।१४६ ।।
तम्हा दु कुसीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसील संसग्गरायेण ।।१४७ ।।

अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है ऐसा तुम जानते हो, किन्तु वह सुशील कैसे हो सकता है जो शुभ कर्म (जीव को) संसार में प्रवेश कराता है।

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी के समान सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है उसी प्रकार अशुभ (पाप) कर्म के समान शुभ (पुण्य) कर्म भी जीव को बाँधता है।

इसलिये इन दोनों कुशीलों (पुण्य-पाप) के साथ राग व संसर्ग मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग व राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

शुभ भावों से पुण्य कर्म का बंध होता है और अशुभ भावों से पाप कर्म का बंध होता है। बंध चाहे पाप का हो या पुण्य का, वह है तो आखिर बंध ही, उससे आत्मा बंधता ही है, मुक्त नहीं होता। मुक्त तो शुभाशुभ भावों के अभाव से अर्थात् शुद्ध भाव (वीतराग भाव) से ही होता है। अतः मुक्ति के मार्ग में पुण्य और पाप का स्थान अभावात्मक ही है।

इस सन्दर्भ में 'योगसार' में योगीन्दुदेव लिखते हैं :-

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावएँ णरय-णिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणई तो लब्भई सिववासु ।।३२ ।।

पुण्य से जीव स्वर्ग पाता है और पाप से नरक पाता है। जो इन दोनों को छोड़कर आत्मा को जानता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

इसी तरह का भाव आचार्य पूज्यपाद ने 'समाधि शतक' में व्यक्त किया है।[१] कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी इस संबंध में स्पष्ट निर्देश देते हैं :-

१. अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।।८३ ।।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णसु।
परिणामो णाण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ।।१८१ ।।[१]

पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है। तथा दूसरों के प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा आत्म-परिणाम आगम में दुःख-क्षय (मोक्ष) का कारण कहा है।

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ।।८३ ।।[२]

जिन-शासन में कहा है कि व्रत, पूजा आदि पुण्य हैं और मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है।

नाटक समयसार में पुण्य-पाप को चंडालिन के युगलपुत्र (जुड़वाँ भाई) बताते हुए लिखा है कि ज्ञानियों को दोनों में से किसी की भी अभिलाषा नहीं करना चाहिए :-

जसैं काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयौ बांभन कै एक घर राख्यौ है।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है ।।
तैसैं एक वेदनी करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहं मांहि दौर धूप, दोऊ कर्मबंध रूप,
यातैं ग्यानवंत नहिं कोउ अभिलाख्यौ है ।।३ ।।[३]

सांसारिक दृष्टि से पाप की अपेक्षा पुण्य को भला कहा जाता है किन्तु मोक्षमार्ग में तो पुण्य और पाप दोनों कर्म बाधक ही हैं :-

मुकति के साधक कौं बाधक करम सब,
आतमा अनादि कौ करम मांहि लुक्यौ है।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ़ मोख मारग सौं चुक्यौ है ।।१३ ।।[४]

१. प्रवचनसार
२. अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़)
३. नाटक समयसार, पुण्य-पाप एकत्वद्वार, कविवर पं. बनारसीदास
४. वही

महाकवि बनारसीदास ने कुन्दकुन्दाचार्यदेव के समयसार नामक ग्रंथराज पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखित आत्मख्याति टीका एवं कलशों के आधार पर नाटक समयसार में पुण्य-पाप सम्बन्धी हेयोपादेय व्यवस्था की गुरु-शिष्य के संवाद के रूप में विस्तार से चर्चा की है, जो इस प्रकार है :-

शिष्य

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं, पाप पुन्न दोऊ सम नांही।
कारण रस सुभाव फल न्यारे, एक अनिष्ट लगैं इक प्यारे।।४।।
संकलेस परिनामनि सौं पाप बंध होइ,
विसुद्ध सौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानियै।
पाप के उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियै।
पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूं कौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै।
पाप सौं कुगति होइ पुन्न सौं सुगति होइ;
एसौ फलभेद परतच्छि परमानियै।।५।।

कोई शिष्य गुरु से कहता है कि पाप और पुण्य दोनों समान नहीं हैं क्योंकि उनके कारण, रस, स्वभाव और फल भिन्न-भिन्न हैं। पाप अनिष्ट प्रतीत होता है और पुण्य प्रिय लगता है।

संक्लेश परिणामों से पाप बंध होता है और विशुद्ध परिणामों से पुण्य बंध। इस प्रकार दोनों में कारण भेद विद्यमान हैं। पाप के उदय से दुःख होता है, जिसका स्वाद कटुक होता है और पुण्य के उदय से सुख होता है, जिसका स्वाद मधुर है; इस प्रकार दोनों में रस भेद पाया जाता है। पाप परिणाम स्वयं संकलेशरूप हैं और पुण्यभाव विशुद्धरूप हैं, अतः दोनों में स्वभाव भेद भी विद्यमान है। पाप से नरकादि कुगतियों में जाना पड़ता है और पुण्य से देवादि सुगति की प्राप्ति होती है; इस प्रकार दोनों में फलभेद भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। फिर आप दोनों को समान कैसे कहते हैं?

पाप बंध पुन्न बंध दुहूँ मैं मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गल कौ पेखिए।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजाल मैं विसेखिए।।

कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात्व मांहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टि मैं न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,
दुहूं कौ विनास मोख मारग मैं देखिए।।६।।

इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि पापबंध और पुण्यबंध दोनों ही मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं, अतः दोनों समान ही हैं। कटुक और मधुर स्वाद भी पुद्गलजन्य हैं, तथा संक्लेश और विशुद्ध भाव दोनों ही विभाव भाव हैं; अतः ये भी समान ही हैं। कुगति और सुगति दोनों चतुर्गतिरूप संसार में ही हैं, अतः फल भेद भी नहीं है। पुण्य-पाप में कारण, रस, स्वभाव और फल भेद वस्तुतः हैं नहीं; मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी को मात्र दिखाई देते हैं, ज्ञानी को ऐसे भेद दृष्टिगत नहीं होते हैं। पुण्य और पाप दोनों ही अंधकूप हैं, दोनों ही कर्मबंधरूप हैं और मोक्षमार्ग में दोनों का ही अभाव देखा जाता है।

मोक्षमार्ग में तो एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है :-

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभ रूप कोऊ असुभ स्वरूप मूल,
वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है।।
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतरागदेव,
आतम धरम मैं करम त्याग-जोग है।
भौ-जल-तरैया, राग-द्वेष कौ हरैया महा-
मोख कौ करैया एक सुद्ध उपयोग है।।७।।

शील, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि इनमें कोई शुभ रूप है और कोई अशुभ रूप है किन्तु मूल वस्तु के विचार करने पर दो प्रकार का कर्म रोग ही है।[१] भगवान वीतरागदेव ने ऐसी ही बंध की पद्धति कही है। पुण्य-पाप दोनों को बंधरूप व बंध का कारण कहा है, अतः आत्म-धर्म (आत्मा का हित करने वाले धर्म) में तो सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्म त्यागने योग्य हैं। संसार-समुद्र से पार उतारने वाला, राग-द्वेष को समाप्त करने वाला और मोक्ष को प्राप्त कराने

१. बनारसीदास ने पुण्य को अकर रोग और पाप को कंप रोग कहा है। देखिए नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द ४०-४१

वाला एक मात्र शुद्धोपयोग ही है, शुभोपयोग ही है, शुभोपयोग और अशुभोपयोग नहीं।

शिष्य – सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसे मन मांही है।
मोख के सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है।।
गुरु – कहे गुरु करम कौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसो अवलंब उनही कौ उन पांही है।
निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप,
और दौर धूप पुद्‌गल परछांही है।।८।।

यह सुनकर शिष्य कहता है कि हे गुरुदेव! आपने शुभ और अशुभ को समान बताकर दोनों का निषेध कर दिया है। अतः मेरे मन में एक संशय उत्पन्न हो गया है कि मोक्षमार्ग की साधना करने वाले अविरति सम्यग्दृष्टि (चतुर्थगुणस्थानवर्ती), अणुव्रती (पंचमगुणस्थानवर्ती), और महाव्रती (षष्ठगुणस्थानवर्ती) जीवों की अवस्था बिना अवलम्बन के तो रह नहीं सकती हैं; उन्हें तो व्रत, शील, संयम, दया, दान, जप, तप, पूजनादिक का अवलम्बन चाहिये ही। अतः आप इन कर्मों का निषेध क्यों करते हैं?

इसका उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि हे भाई! ऐसा नहीं है। क्या मुक्तिमार्ग के पथिक जीवों का अवलम्बन पुण्य-पाप रूप है? अरे, उनका अवलम्बन तो उनका ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा है, जो सदा विद्यमान है। कर्मों का अभाव तो आत्मानुभव एवं उसके अभ्यास से होता है। अतः उनके निरावलम्बन होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मोह-राग-द्वेष रहित आत्मा में समाधि लगाना ही मुक्ति का कारण एवं मोक्ष का स्वरूप है, व्रतादिक के विकल्प और जड़ की क्रिया तो पुद्‌गल की परछाईं है। कहा भी है :-

करम सुभासुभ दोइ, पुद्‌गल पिंड विभाव मल।
इन सौ मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए।।११।।

शुभ और अशुभ ये दोनों कर्म मल हैं, पुद्‌गल पिण्ड हैं और आत्मिक विभाव हैं। इनसे केवलज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

शिष्य – कोऊ शिष्य कहै स्वामी! अशुभक्रिया असुद्ध,
शुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यौं न बरनी।
गुरु – गुरु कहै जबलौं क्रिया के परिनाम रहैं,
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी।।
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ,
यातैं दोऊ क्रिया मोख-पंथ की कतरनी।
बंध की करैया दोऊ दुहू में न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी।।१२।।

इतना सुनने पर कोई समझौतावादी शिष्य सलाह देता हुआ कहता है कि हे गुरुदेव! आप शुभक्रिया शुद्ध और अशुभक्रिया अशुद्ध है, ऐसा क्यों नहीं कहते हैं?

उसको समझाते हुए गुरुदेव कहते हैं कि हे भाई! जबतक शुभाशुभ क्रिया के परिणाम रहते हैं तब तक योग (मन, वचन, काय) और उपयोग (ज्ञान-दर्शन) में चंचलता बनी रहती है। जब तक योग और उपयोग में स्थिरता नहीं आती है तब तक शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता है। अतः शुभाशुभ दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्ग को काटने में कैंची के समान हैं। दोनों ही बंध को करने वाली हैं। दोनों में कोई भी अच्छी नहीं है। मैंने दोनों का निषेध मोक्षमार्ग में बाधक जानकर ही किया है।

इस प्रकार पंडित बनारसीदासजी ने आगमानुकूल अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है।

इसी संदर्भ में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :-

''तथा आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबंध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। ....इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबंध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबंध के कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे सब त्याज्य हैं। इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बंध का कारण जानकर हेय ही मानना........ जहाँ वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारूप प्रवर्तें वहाँ निर्बंध है सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो, परन्तु

श्रद्धान तो ऐसा रखो कि – यह भी बंध का कारण है – हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।[१]''

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि लौकिक दृष्टि से पाप की अपेक्षा पुण्य अच्छा है व इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर शास्त्रों में उसे व्यवहार से धर्म भी कहा गया है तथापि मुक्ति के मार्ग में उसका स्थान अभावात्मक ही है।

पुण्य भला मानने में मूल कारण पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली भोग–सामग्री में सुखबुद्धि है। जब तक भोगों को सुखरूप माना जाता रहेगा तब तक पुण्य में उपादेयबुद्धि नहीं जा सकती। ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा के स्पर्श के बिना भोगों में से सुखबुद्धि नहीं जा सकती है। ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा का अनुभव ही शुद्ध भाव है जो कि शुभाशुभ (पुण्य–पाप) भाव के अभावरूप होता है। अतः सम्यक् सुखाभिलाषी जीवों को आत्मानुभूतिरूप शुद्धभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पुण्य भला मानने में मूल कारण पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली भोग–सामग्री में सुखबुद्धि है। जब तक भोगों को सुखरूप माना जाता रहेगा तब तक पुण्य में उपादेयबुद्धि नहीं जा सकती। ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा के स्पर्श के बिना भोगों में से सुखबुद्धि नहीं जा सकती है। ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा का अनुभव ही शुद्ध भाव है जो कि शुभाशुभ (पुण्य–पाप) भाव के अभावरूप होता है। अतः सम्यक् सुखाभिलाषी जीवों को आत्मानुभूतिरूप शुद्ध भाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न :–

१. मुक्ति के मार्ग में पुण्य का क्या स्थान है?
२. पुण्य और पाप किसे कहते हैं?
३. पुण्य और पाप के कारणादि भेदों को स्पष्ट करते हुए दोनों में सयुक्ति एकत्व स्थापित कीजिए।

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, २२६

पाठ ४

उपादान–निमित्त

प्रवचनकार –

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।।

जगत का प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। पदार्थों के परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। कार्य को कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम और परिणति भी कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन का कर्त्ता स्वयं है। उसे अपने परिणमन में दूसरे के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी जीव पर के सहयोग की आकांक्षा से व्यर्थ ही दुःखी होते हैं।

जिज्ञासु –

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः कारणों की खोज को व्यर्थ कैसे माना जा सकता है?

प्रवचनकार –

तुम ठीक कहते हो कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। किन्तु जानते हो कारण किसे कहते हैं? कार्य की उत्पादक सामग्री को ही कारण कहते हैं। वे कारण दो प्रकार के होते हैं – उपादानकारण और निमित्तकारण।

जो स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादानकारण कहते हैं। जो स्वयं कार्यरूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके, उसे निमित्तकारण कहते हैं; जैसे – 'घट' रूप कार्य का मिट्टी उपादानकारण है और चक्र, दण्ड एवं कुम्हार निमित्तकारण हैं।

जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है उसे उपादान और उस कार्य को उपादेय कहते हैं और निमित्त की अपेक्षा कथन करने पर उसी कार्य को नैमित्तिक कहते हैं। एक ही कार्य को उपादानकारण की अपेक्षा कथन करने पर उपादेय और निमित्तकारण की अपेक्षा कथन करने पर नैमित्तिक कहा जाता है।

जिज्ञासु –

उपादान–उपादेय और निमित्त–नैमित्तिक को कृपया उदाहरण देकर समझा दीजिए।

प्रवचनकार –

सुनो ! जैसे 'घट' कार्य का उपादानकारण मिट्टी रूप द्रव्य है। यहाँ 'मिट्टी' उपादान है, अतः इसकी अपेक्षा कथन करने पर 'घट' कार्य 'उपादेय' कहा जायगा तथा 'घट' कार्य के कुम्हार, चक्रादि निमित्तकारण है। निमित्तों की अपेक्षा कथन करने पर उसी 'घट' कार्य को 'नैमित्तिक' कहा जायगा।

यहाँ उपादेय शब्द का प्रयोग 'ग्रहण करने योग्य' इस अर्थ में नहीं है। यहाँ तो निमित्त की अपेक्षा जिस कार्य को नैमित्तिक कहा जाता है, उसे ही अपने उपादान की अपेक्षा उपादेय कहा जाता है। आशा है अब आप लोगों की समझ में आ गया होगा।

जिज्ञासु –

आ गया ! अच्छी तरह आ गया ! !

प्रवचनकार –

तो, 'स्वर्णहार' और 'सम्यग्दर्शन' रूप कार्य पर उपादान–उपादेय और निमित्त–नैमित्तिक घटाइये।

जिज्ञासु –

स्वर्ण रूप द्रव्य उपादान है और 'हार' (स्वर्णहार) उपादेय है। आग, सुनार आदि निमित्त हैं और 'हार' नैमित्तिक है। इसी प्रकार आत्मद्रव्य या श्रद्धा गुण उपादान है और सम्यग्दर्शन उपादेय हैं। मिथ्यात्वकर्म का अभाव निमित्त है और सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है।

प्रवचनकार –

बहुत अच्छा !

शंकाकार –

उपादान यदि 'द्रव्य' या 'गुण' है तो वह सदा काल विद्यमान रहता है, अतः विवक्षित कार्य सदा होता रहना चाहिए।

प्रवचनकार –

उपादान दो तरह का होता है –

(१) त्रिकाली उपादान (२) क्षणिक उपादान।

जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्यरूप परिणमित हो उसे त्रिकाली उपादानकारण कहते हैं।

क्षणिक उपादानकारण को दो तरह से स्पष्ट किया जाता है :–

१. द्रव्य और गुणों में अनादि–अनन्त पर्यायों का प्रवाहक्रम चलता रहता है। उस अनादि–अनन्त–प्रवाहक्रम में अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय क्षणिक उपादानकारण है और अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य है।

२. उस समय की पर्याय की उस रूप होने की योग्यता क्षणिक उपादानकारण है और वह पर्याय कार्य है।

क्षणिक उपादानकारण को समर्थ उपादानकारण भी कहते हैं। त्रिकाली उपादानकारण तो सदा विद्यमान रहता है, यदि उसे ही पूर्ण समर्थकारण मान लिया जाय तो विवक्षित कार्योत्पत्ति का सदा प्रसंग आयगा। अतः अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय एवं उस समय उस पर्याय के उत्पन्न होने की स्वयं की योग्यता ही समर्थ उपादानकारण हैं, जिनके बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है और जिनके होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य उपादान है और अनन्ततर उत्तर पर्याय विशिष्ट द्रव्य उपादेय है। अनुकूल बाह्य पदार्थ निमित्त है और विवक्षित कार्य नैमित्तिक है।

शंकाकार –

निमित्त भी दो प्रकार के होते हैं! उदासीन और प्रेरक।

प्रवचनकार –

हाँ, निमित्तों का वर्गीकरण भी उदासीन और प्रेरक इन दो रूपों में किया जाता है। यद्यपि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और कालद्रव्य इच्छाशक्ति से रहित और निष्क्रिय होने से उदासीन निमित्त कहे जाते हैं तथा जीवद्रव्य इच्छावान और क्रियावान होने से एवं पुद्गलद्रव्य क्रियावान होने से प्रेरक

निमित्त कहे जाते हैं तथापि कार्योत्पत्ति में सभी निमित्त धर्मास्तिकाय के समान उदासीन ही हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है –

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्।।३५।।

अज्ञ को उपदेशादि निमित्तों द्वारा विज्ञ नहीं किया जा सकता और न ही विज्ञ को अज्ञ ही कह सकते हैं क्योंकि परपदार्थ तो निमित्त मात्र हैं जैसे कि स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों को धर्मास्तिकाय होता है।

इसी को स्पष्ट करते हुए इसकी संस्कृत टीका में लिखा है –

''यहाँ यह शंका हो सकती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जायगा। इसका उत्तर दिया है – अन्य जो गुरु आदि तथा शत्रु आदि हैं वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में सिर्फ निमित्त मात्र हैं। वस्तुतः किसी कार्य के होने व बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है[१]।''

जिज्ञासु –

चारण ऋद्धिधारी मुनियों का उपदेश पाकर तो भगवान महावीर के जीव ने अपनी पूर्व शेर की पर्याय में आत्महित किया था। उसका ही परिणाम है कि वह जीव आगे जाकर भगवान महावीर बना। आप उपदेश रूप निमित्त का निषेध क्यों करते हैं?

प्रवचनकार –

हम उपदेश रूप निमित्त का निषेध कब करते हैं? हम तो निमित्त के कर्तृत्व का निषेध करते हैं। यदि उपदेश से ही आत्महित होता है तो उपदेश तो बहुत जीव सुनते हैं, सबका हित क्यों नहीं हो जाता? भगवान महावीर के जीव का हित मारीचि के भव में ही क्यों नहीं हो गया? क्या वहाँ सद्निमित्तों की कमी थी? पिता चक्रवर्ती भरत, धर्मचक्र के आदि प्रवर्त्तक भगवान ऋषभदेव बाबा। भगवान ऋषभदेव के समवशरण में उनका उपदेश सुनकर तो उसने विरोध भाव उत्पन्न किया था। क्या उनके उपदेश में कोई कमी थी? क्या चारण ऋद्धिधारी मुनियों का उपदेश उनसे भी अच्छा था? इसी से सिद्ध होता है कि जब उपादान की तैयारी हो तब कार्य होता ही है और उस समय योग्य निमित्त भी होता ही है,

उसे खोजने नहीं जाना पड़ता है। क्रूर शेर की पर्याय में घोर वन में उपदेश का कहाँ अवसर था? पर उसका पुरुषार्थ जगा तो निमित्त आकाश से उतर कर आए। इसीलिए तो कहा था कि आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिए। 'निमित्त नहीं होता' यह कौन कहता है? पर निमित्तों को खोजना भी नहीं पड़ता है। जब उपादान में कार्य होता है तो तदनुकूल निमित्त होता ही है।

निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता है, कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है। वेश्या के मृत शरीर को देखकर रागी को राग और वैरागी को वैराग्य उत्पन्न होता है। वह वेश्या रागी के राग और वैरागी के वैराग्य का निमित्त कही जाती है। यदि निमित्त के अनुसार कार्य होता हो तो उसे देखकर प्रत्येक को या तो राग ही उत्पन्न होना चाहिये या फिर वैराग्य ही।

आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी कहते हैं – ''परद्रव्य कोई जबरन तो बिगाड़ता नहीं है, अपने भाव बिगड़े तब वह भी बाह्य निमित्त है तथा इसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियमरूप से निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य का तो दोष देखना मिथ्याभाव है[१]।''

न तो निमित्त उपादान में बलात् कुछ करता है और न ही उपादान किन्हीं निमित्तों को बलात् लाता या मिलाता है। दोनों का सहज ही सम्बन्ध होता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की सहजता को पंडित टोडरमलजी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है –

''यदि कर्म स्वयं कर्त्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य-सामग्री को मिलावे तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए; सो तो है नहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जब उन कर्मों का उदयकाल हो, उस काल में स्वयं ही आत्मा स्वभावरूप परिणमन नहीं करता, विभावरूप परिणमन करता है तथा जो अन्य द्रव्य हैं वे वैसे ही सम्बन्ध रूप होकर परिणमित होते हैं........ जिस प्रकार सूर्य के उदय के काल में चकवा-चकवियों का संयोग होता है, वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से बलजबरी करके अलग अलग नहीं किये हैं, दिन में किसी ने करुणाबुद्धि से लाकर मिलाये नहीं हैं; सूर्योदय को निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। उस ही प्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, २४३
२. वही, २५-२६

जानना[२]।''

जिज्ञासु –

निमित्त–उपादान के झगड़े में हम पड़ें ही क्यों? इसे न जानें तो क्या हानि है और जानने में क्या लाभ है ?

प्रवचनकार –

निमित्त–उपादान का सही स्वरूप समझना झगड़ना नहीं है। एक को दूसरे का कर्त्ता मानना झगड़ा है। इसी झगड़े के कारण जीव दुःखी हैं। निमित्त–उपादान का सही स्वरूप समझने से यह झगड़ा समाप्त हो जायगा।

उपादान–निमित्त का सही ज्ञान न होने पर व्यक्ति अपने द्वारा कृत कार्यों (अपराधों) का कर्तृत्व निमित्त पर थोप कर स्वयं निर्दोष बना रहना चाहता है। पर जैसे चोर स्वयंकृत चोरी का आरोप चांदनी रात के नाम पर मढ़ कर दंड–मुक्त नहीं हो सकता; उसी प्रकार आत्मा भी अपने द्वारा कृत मोह–राग–द्वेष भावों का कर्तृत्व कर्मों पर थोप कर दुःख मुक्त नहीं हो सकता है। उक्त स्थिति में स्वदोष दर्शन और आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति की ओर दृष्टि तक नहीं जाती है।

इसकी यथार्थ समझ से पर–कर्तृत्व का अभिमान दूर हो जाता है। पराश्रय के भाव के कारण उत्पन्न दीनता–हीनता का अभाव हो जाता है। प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का भान होता है और स्वावलम्बन का भाव जागता है। पर पदार्थों के सहयोग की आकांक्षा से होने वाली व्यग्रता का अभाव होकर सहज स्वाभाविक शान्त दशा प्रगट होती है।

अब समय हो गया है। आज जो बताया है उस पर गम्भीरता से विचार करना ! तुम्हारा कल्याण होगा ! !

प्रश्न –

१. उपादान किसे कहते हैं ? वह कितने प्रकार का होता है ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
२. निमित्त किसे कहते हैं ? वह कितने प्रकार का होता है ? प्रेरक निमित्त से क्या आशय है ?
३. किसी एक कार्य पर उपादान–उपादेय और निमित्त–नैमित्तिक घटाकर समझाइए।
४. उपादान–निमित्त के जानने से क्या लाभ है ?

पाठ ५

आत्मानुभूति और तत्त्वविचार

'सुख क्या है?' और 'मैं कौन हूँ?' इन प्रश्नों का सही उत्तर प्राप्त करने का एक मात्र उपाय आत्मानुभूति है तथा आत्मानुभूति प्राप्त करने का प्रारंभिक उपाय तत्त्वविचार है। पर आत्मानुभूति अपनी आरम्भिक भूमिका तत्त्वविचार का भी अभाव करती हुई उदित होती है क्योंकि तत्त्वविचार विकल्पात्मक है और आत्मा निर्विकल्पक स्वसंवेद्य तत्त्व है। निर्विकल्पक तत्त्व की अनुभूति विकल्पों द्वारा नहीं की जा सकती है। उक्त तथ्य 'सुख क्या है?'[१] और 'मैं कौन हूँ'[२] नामक निबंधों में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ तो विचारणीय प्रश्न यह है कि आत्मानुभूति की दशा क्या है और तत्त्वविचार किसे कहना?

अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभूति है। वर्तमान प्रगट ज्ञान को पर–लक्ष्य से हटा कर स्वद्रव्य (त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व) में लगा देना ही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। वह ज्ञानतत्त्व से निर्मित होने से, ज्ञानतत्त्व की ग्राहक होने से और सम्यग्ज्ञान–परिणति की उत्पादक होने से ज्ञानमय है। अतः वह आत्मानुभूति ज्ञायक, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्ति रूप होकर भी इनके भेद से रहित अभेद और अखण्ड है। तात्पर्य यह है कि जानने वाला भी स्वयं आत्मा है और जानने में आने वाला भी स्वयं आत्मा ही है तथा ज्ञान परिणति भी आत्मामय हो रही है।

१. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १, पाठ ५
२. वीतराग–विज्ञान पाठमाला भाग ३, पाठ ५

यह ज्ञानमय दशा आनन्दमय भी है, यह ज्ञानानन्दमय है। इसमें ज्ञान और आनन्द का भेद नहीं है। यह ज्ञान भी इन्द्रियातीत है और आनन्द भी इन्द्रियातीत। यह अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द की दशा ही धर्म है। अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व पर सम्पूर्ण प्रगट ज्ञानशक्ति का केन्द्रीभूत हो जाना धर्म की दशा है। अतः एक मात्र वही ज्ञानानंद स्वभावी ध्रुवतत्त्व ध्येय है, साध्य है, और आराध्य है; तथा मुक्ति के पथिक तत्त्वाभिलाषी को समस्त जगत अध्येय, असाध्य, और अनाराध्य है।

यह चैतन्यभावरूप आत्मानुभूति ही करने योग्य कार्य (कर्म) है; पर की किसी भी प्रकार की अपेक्षा बिना चेतन आत्मा ही इसका कर्त्ता है और यही धर्मपरिणति रूप ज्ञानचेतना सम्यक् क्रिया है। इसमें कर्त्ता, कर्म और क्रिया का भेद कथनमात्र है, वैसे तो तीनों ही ज्ञानमय होने से अभिन्न (अभेद) ही हैं।

धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से ही होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिये एक मात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है।

उक्त प्रयोजन की सिद्धि हेतु जिन वास्तविकताओं की जानकारी आवश्यक है, उन्हें प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं तथा उनके सम्बन्ध में किया गया विकल्पात्मक प्रयत्न ही तत्त्वविचार कहलाता है।

'मैं कौन हूँ ?' (जीव तत्त्व), 'पूर्ण सुख क्या है ?' (मोक्ष तत्त्व), इस वैचारिक प्रक्रिया के मूलभूत प्रश्न हैं। मैं सुख कैसे प्राप्त करूँ अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय-आनन्द की दशा को कैसे प्राप्त हो ? जीव तत्त्व मोक्ष तत्त्वरूप किस प्रकार परिणमित हो ? आत्माभिलाषी मुमुक्षु के मानस में निरंतर यही मंथन चलता रहता है।

यह विचारता है कि चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ तत्त्व की सत्ता भी लोक में है। आत्मा में अपनी भूल से मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा शुभाशुभ भावों की परिणति में ही यह आत्मा उलझा (बंधा) हुआ है। जब तक आत्मा अपने स्वभाव को पहिचान कर आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता तब तक मुख्यतः मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति रुके, इसका एक मात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्म-केन्द्रित हो जाना है। इसी से शुभाशुभ भावों

का अभाव होकर वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय वह होगा कि समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग-परिणति रूप परिणत हो जायगा। दूसरे शब्दों में पूर्ण ज्ञानानन्दमय पर्याय रूप परिणमित हो जायेगा।

उक्त वैचारिक प्रक्रिया ही तत्त्वविचार की श्रेणी है। स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरंतर तत्त्वमंथन की प्रक्रिया है। किन्तु तत्त्वमंथन रूप विकल्पों से भी आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होगी क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं जो आत्मानुभूति को प्राप्त करा दे। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत् पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत् से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो पर हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी पर हैं तथा आत्मा में प्रति समय उत्पन्न होने वाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकती। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्मतत्त्व है, वही एक मात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में रङ्ग, राग और भेद से भी परे चेतनतत्त्व है। रङ्ग माने पुद्गलादि पर पदार्थ, राग माने आत्मा में उठने वाले शुभाशुभ रूप रागादि विकारी भाव, और भेद माने गुण-गुणी भेद व ज्ञानादि गुणों के विकास सम्बन्धी तारतम्य रूप भेद; इन सबसे परे ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्त्व है, वही एक मात्र आश्रय योग्य तत्त्व है। उसके प्रति वर्तमान ज्ञान के उघाड़ का सर्वस्व समर्पण ही आत्मानुभूति का सच्चा उपाय है।

प्रश्न यह नहीं है कि आपके पास वर्तमान प्रगटरूप कितनी ज्ञान शक्ति है? प्रश्न यह है कि क्या आप उसे पूर्णतः आत्म-केन्द्रित कर सकते हैं? स्वानुभूति के लिए स्वस्थ मस्तिष्क व्यक्ति को जितना ज्ञान प्राप्त है, वह पर्याप्त है। पर प्रगट ज्ञान का आत्म-स्वभाव के प्रति सर्वस्व समर्पण एक अनिवार्य तत्त्व (शर्त) है, जिसके बिना आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि प्रयोजनभूत तत्त्वों का विकल्पात्मक सच्चा निर्णय हो गया हो तो अप्रयोजनभूत बहिर्लक्ष्यी ज्ञान की हीनाधिकता से कोई अन्तर नहीं पड़ता, पर एक (आत्म) निष्ठता अति आवश्यक है।

यह आत्मा अपनी भूल से पर्याय में चाहे जितना उन्मार्गी बने, पर आत्म-स्वभाव उसे कभी भी छोड़ नहीं देता; किन्तु जब तक यह आत्मा अपनी दृष्टि को समस्त पर पदार्थों से हटाकर आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता तब तक आत्म-स्वभाव की सच्ची अनुभूति भी प्राप्त नहीं हो सकती।

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए बाह्य साधनों की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। जैसे लोक में अपनी वस्तु के उपयोग के लिए पैसा खर्च नहीं करना पड़ता है; उसी प्रकार आत्मानुभूति के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्वयं को, स्वयं की, स्वयं के द्वारा ही तो अनुभूति करना है। आखिर इसमें पर की अपेक्षा क्यों हो? आत्मानुभूति में पर के सहयोग का विकल्प बाधक ही है, साधक नहीं।

आत्मानुभूति के काल में पर सम्बन्धी विकल्पमात्र आत्मानुभूति की एकरसता को छिन्न-भिन्न किए बिना नहीं रहता है। अतः यह निश्चित है कि जो साधक अपनी साधना में पर के सहयोग की आकांक्षा से व्यग्र रहता है, उसके पल्ले मात्र व्यग्रता ही पड़ती है; उसे साध्य की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अतः आत्मानुभव के अभिलाषी मुमुक्षुओं को पर के सहयोग की कल्पना में आकुलित नहीं रहना चाहिए।

शुभाशुभ विकल्पों के टूटने की प्रक्रिया और क्रम क्या है? तथा पर-निरपेक्ष आत्मानुभूति के मार्ग के पथिक की अंतरंग व बहिरंग दशा कैसी होती है? ये अपने आपमें विस्तृत विषय हैं। इन पर पृथक् से विवेचन अपेक्षित है।

प्रश्न –

१. आत्मानुभूति किसे कहते हैं? स्पष्ट कीजिए।
२. तत्त्वविचार किसे कहते हैं? समझाइये।
३. ''आत्मानुभूति और तत्त्वविचार'' इस विषय पर एक निबंध लिखिए।

पाठ ६

षट् कारक

आचार्य कुन्दकुन्द
(व्यक्तित्व और कर्तृत्व)

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥

परम आध्यात्मिक सन्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव को समग्र दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। उन्हें भगवान महावीर और गौतम गणधर के तत्काल बाद मंगलस्वरूप स्मरण किया जाता है। प्रत्येक दिगम्बर जैन उक्त छन्द को शास्त्राध्ययन आरंभ करने के पूर्व प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक बोलता है। दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं।

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्य देव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहने वाले अन्तर्मग्न कुन्दकुन्द ने अपने बारे में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' में मात्र नाम का उल्लेख है। इसी प्रकार 'बोधपाहुड़' में अपने को द्वादश अंग ग्रन्थों के ज्ञाता तथा चौदह पूर्वों का विपुल प्रसार करने वाले श्रुतज्ञानी भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।

यद्यपि परवर्ती ग्रन्थकारों ने श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक आपका उल्लेख किया है, उससे उनकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है, तथापि उनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

प्राप्त जानकारी के अनुसार इनका समय विक्रम सम्वत् का आरंभ काल है। श्रुतसागर सूरि ने 'षट्प्राभृत' की टीका-प्रशस्ति में इन्हें कलिकाल सर्वज्ञ कहा है। इन्हें कई ऋद्धियाँ प्राप्त थीं और इन्होंने विदेहक्षेत्र में विराजमान विद्यमान तीर्थंकर भगवान श्री सीमंधरनाथ के साक्षात् दर्शन किए थे। विक्रम

संवत् ९९० में हुए देवसेनाचार्य ने अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रंथ में तत्सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार किया है :-

जइ पउमणंदिणाहो, सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।

श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते?

इनका वास्तविक नाम पद्मनंदि है। कौण्डकुण्डपुर के वासी होने से इन्हें कुन्दकुन्दाचार्य कहा जाने लगा।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव के निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं - समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, द्वादशानुप्रेक्षा और दशभक्ति। रयणसार और मूलाचार भी उनके ही ग्रंथ कहे जाते हैं। कहते हैं उन्होंने चौरासी पाहुड़ लिखे थे। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने 'षट्खण्डागम' के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, जो उपलब्ध नहीं है।

समयसार जैन अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में जैन सिद्धान्तों का विशद विवेचन है। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है। उक्त तीनों ग्रंथों पर आचार्य अमृतचंद्र ने संस्कृत भाषा में गंभीर टीकाएँ लिखी हैं। इन पर आचार्य जयसेन की संस्कृत टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

करीब चालीस वर्ष से आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने जन-जन की वस्तु बना दिया है। उन्होंने उन पर प्रवचन किए, सस्ते सुलभ प्रकाशन कराए तथा सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में परमागम मंदिर का निर्माण कराके उसमें संगमरमर के पाटियों पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीका सहित तथा अष्टपाहुड़ उत्कीर्ण करा कर उन्हें भौतिक दृष्टि से भी अमर कर दिया है। उक्त परमागम मंदिर एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है।

प्रस्तुत पाठ कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार व पंचास्तिकाय एवम् उनकी टीकाओं के आधार पर लिखा गया है। जैन अध्यात्म और सिद्धान्त का मर्म जानने के लिए पाठकों को कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

षट् कारक

प्रवचनकार -

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदधाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।

यह प्रवचनसार नामक महाशास्त्र है। इसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व बनाया था। जैसा महान यह ग्रंथराज है वैसी ही तत्त्वप्रदीपिका नामक महान टीका संस्कृत भाषा में आचार्य अमृतचंद्र ने इस पर लिखी है। इसके तीन महा अधिकार है :-

(१) ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन

(२) ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन

(३) चरणानुयोगसूचक चूलिका

यहाँ इसके ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार की गाथा १६वीं चलती है। इसमें यह बताया गया है कि शुद्धोपयोग से होने वाली शुद्धात्मा की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यन्त स्वाधीन है। लेश मात्र भी पराधीन नहीं है। तात्पर्य यह है कि अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के लिए रंचमात्र भी पर के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। गाथा इस प्रकार है -

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो।।१६।।

स्वभाव को प्राप्त आत्मा सर्वज्ञ और सर्वलोकपतिपूजित स्वयमेव हुआ होने से स्वयंभू है - ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

आचार्य यहाँ यह कहना चाहते हैं कि निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए यह जीव बाह्य सामग्री (पर पदार्थों के सहयोग) की आकांक्षा से व्यर्थ ही दुखी हो रहा है।

जिज्ञासु :-

कारकता का सम्बन्ध क्या वस्तु है? कारक किसे कहते हैं? कृपया यह समझाइये।

प्रवचनकार :-

जो क्रिया का जनक हो, क्रियानिष्पत्ति में प्रयोजक हो, उसको कारक कहते हैं। 'करोति क्रियां निर्वर्तयतीति कारकः' ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि जो किसी न किसी रूप में क्रिया-व्यापार के प्रति प्रयोजक होता है, कारक वही हो सकता है, अन्य नहीं।

कारक छह हैं - (१) कर्त्ता (२) कर्म (३) करण (४) सम्प्रदान (५) अपादान और (६) अधिकरण।

जो स्वतंत्रतया (स्वाधीनता से) करता है वह कर्त्ता है; कर्त्ता जिसे प्राप्त करता है वह कर्म है; साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन को करण कहते हैं; कर्म जिसे दिया जाता है अथवा जिसके लिए किया जाता है वह सम्प्रदान है; जिसमें से कर्म किया जाता है वह ध्रुववस्तु अपादान है; और जिसमें अर्थात् जिसके आधार से कर्म किया जाता है वह अधिकरण है।

ये छह कारक व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार के हैं। जहाँ पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि लगती है, वहाँ व्यवहार कारक है; और जहाँ अपने ही उपादानकरण से कार्य की सिद्धि कही जाती है, वहाँ निश्चय कारक हैं।

व्यवहार कारकों को इस प्रकार घटित किया जाता है :- कुम्हार कर्त्ता है; घड़ा कर्म है; दंड, चक्र इत्यादि करण है; कुम्हार जल भरने वाले के लिए घड़ा बनाता है, इसलिए जल भरने वाला सम्प्रदान है; टोकरी में से मिट्टी लेकर घड़ा बनाता है, इसलिए टोकरी अपादान है; और पृथ्वी के आधार पर घड़ा बनाता है, इसलिए पृथ्वी अधिकरण है। यहाँ सभी कारक भिन्न-भिन्न हैं।

परमार्थतः कोई द्रव्य किसी का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं हो सकता, इसलिए छहों व्यवहार कारक असत्यार्थ हैं। वे मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से कहे जाते हैं। निश्चय से किसी द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ कारकता का सम्बन्ध है ही नहीं।

निश्चय कारकों को इस प्रकार घटित करते हैं :- मिट्टी स्वतंत्रतया घड़ारूप कार्य को प्राप्त होती है, इसलिए मिट्टी कर्त्ता है और घड़ा कर्म है, अथवा घड़ा मिट्टी से अभिन्न है इसलिए मिट्टी स्वयं ही कर्म है; अपने परिणमन स्वभाव से मिट्टी ने घड़ा बनाया, इसलिए मिट्टी स्वयं ही करण है; मिट्टी ने घड़ारूप कर्म अपने को ही दिया, इसलिए मिट्टी स्वयं सम्प्रदान है। मिट्टी ने अपने में से

पिण्डरूप अवस्था नष्ट करके घटरूप कार्य किया और स्वयं ध्रुव बनी रही, इसलिए वह स्वयं ही अपादान है। मिट्टी ने अपने ही आधार से घड़ा बनाया, इसलिए स्वयं ही अधिकरण है। इस प्रकार निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में है।

परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सहायता नहीं कर सकता और द्रव्य स्वयं ही, अपने को, अपने से, अपने लिए, अपने में से, अपने में करता है, इसलिए निश्चय छह कारक ही परम सत्य हैं।

उपरोक्त प्रकार से द्रव्य स्वयं ही अपनी अनंतशक्ति रूप सम्पदा से परिपूर्ण है, इसलिए स्वयं ही छह कारक रूप होकर अपना कार्य करने के लिए समर्थ है, उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिए केवलज्ञान प्राप्ति के इच्छुक आत्मा को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है। शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही छह कारक रूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। वह आत्मा स्वयं अनन्तशक्तिवान ज्ञायक-स्वभाव से स्वतंत्र है, इसलिये स्वयं ही कर्त्ता है; स्वयं अनन्तशक्तिवाले केवलज्ञान को प्राप्त करने से केवलज्ञान कर्म है, अथवा केवलज्ञान से स्वयं अभिन्न होने से आत्मा स्वयं ही कर्म है; अपने अनन्तशक्तिवाले परिणमन स्वभावरूप उत्कृष्ट साधन से केवलज्ञान को प्रगट करता है, इसलिये आत्मा स्वयं ही संप्रदान है; अपने में से मत-श्रुतादि अपूर्णज्ञान दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है और स्वयं सहज ज्ञानस्वभाव के द्वारा ध्रुव रहता है, इसलिए स्वयं ही अपादान है; अपने में ही अर्थात् अपने ही आधार से केवलज्ञान प्रगट करता है इसलिये स्वयं ही अधिकरण है। इस प्रकार स्वयं छह कारक रूप होता है, इसलिए वह 'स्वयंभू' कहलाता है।

जिज्ञासु -

यह तो आत्मा की शुद्ध पर्याय की बात हुई। आत्मा के विकारी भावों और ज्ञानावरणादि कर्मों में तो परस्पर कारकता का सम्बन्ध पाया ही जाता है।

प्रवचनकार -

नहीं। सर्व द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में छह कारक निश्चय से स्वयं के स्वयं में वर्तते हैं, इसलिए आत्मा और पुद्गल चाहे वे शुद्ध दशा में हों या अशुद्ध

दशा में, छहों कारक रूप स्वयं परिणमन करते हैं, दूसरे कारकों की (निमित्त कारणों की) अपेक्षा नहीं रखते।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपने 'पंचास्तिकाय' नामक महाग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा की टीका लिखते हुए अमृतचन्द्राचार्यदेव ने खूब खुलासा किया है, जो इस प्रकार है :-

(१) पुद्गल स्वतंत्ररूप से द्रव्यकर्म को करता होने से पुद्गल स्वयं ही कर्त्ता है; (२) द्रव्यकर्म को प्राप्त करता होने से द्रव्यकर्म कर्म है, अथवा द्रव्यकर्म से स्वयं अभिन्न होने से पुद्गल स्वयं ही कर्म (कार्य) है; (३) स्वयं द्रव्यकर्म रूप परिणमित होने की शक्तिवाला होने से पुद्गल स्वयं ही करण है; (४) अपने को द्रव्यकर्म रूप परिणाम देता होने से पुद्गल स्वयं ही सम्प्रदान है; (५) अपने में से पूर्व परिणाम का व्यय करके द्रव्यकर्म रूप परिणाम करता होने से तथा पुद्गल द्रव्यरूप से ध्रुव रहता होने से पुद्गल स्वयं ही अपादान है; (६) अपने में अर्थात् अपने आधार से द्रव्यकर्म करता होने से पुद्गल स्वयं ही अधिकरण है।

उसी प्रकार (१) जीव स्वतंत्र रूप से जीवभाव को करता होने से जीव स्वयं ही कर्त्ता है; (२) जीवभाव को प्राप्त करता होने से जीवभाव कर्म है अथवा जीवभाव से स्वयं अभिन्न होने से जीव स्वयं ही कर्म है; (३) स्वयं जीवभाव रूप से परिणमित होने की शक्तिवाला होने से जीव स्वयं ही करण है; (४) अपने को जीवभाव देता होने से जीव स्वयं ही सम्प्रदान है; (५) अपने में पूर्व भाव का व्यय करके (नवीन) जीवभाव करता होने से और जीवद्रव्य रूप से ध्रुव रहने से जीव स्वयं ही अपादान है; (६) अपने में अर्थात् अपने आधार से जीवभाव करता होने से जीव स्वयं ही अधिकरण है।

कर्म वास्तव में स्वयं ही षट्कारक रूप परिणमित होता है इसलिए अन्य कारकों (अन्य के षट्कारकों) की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार जीव षट्कारक रूप परिणमित होता है इसलिए अन्य के षट्कारकों की अपेक्षा नहीं रखता; इसलिए निश्चय से कर्म का कर्त्ता जीव नहीं है और जीव का कर्त्ता कर्म नहीं है।

निश्चय से पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मयोग्य पुद्गल स्कंधों रूप परिणमित होता है और जीव द्रव्य भी अपने औदयिकादि भावों रूप स्वयं परिणमित होता है। दोनों के कारक एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं

अतः किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारकों की अपेक्षा नहीं होती।

जिज्ञासु -

इसके जानने से क्या लाभ है?

प्रवचनकार -

स्पष्ट है कि जहाँ तक श्रद्धा में इस मान्यता का सद्भाव है कि 'अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्य की उत्पाद-व्यय रूप क्रियापरिणति का कर्त्ता आदि होता है' वहीं तक मिथ्यात्व दशा है। तथा जहाँ से श्रद्धा में उसका स्थान वस्तुभूत यह विचार ले लेता है कि 'प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रियापरिणति का कर्त्ता आदि आप स्वयं है, यह आत्मा अपने अज्ञानवश संसार का पात्र आप स्वयं बना हुआ है और अपने पुरुषार्थ द्वारा उसका अन्त कर आप स्वयं मोक्ष का पात्र बनेगा', वहीं से आत्मा की सम्यग्दर्शन रूप अवस्था का प्रारंभ होता है और इस आधार से जैसे-जैसे चारित्र में परनिरपेक्षता आकर स्वावलंबन में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे सम्यग्दृष्टि का उक्त विचार आत्मचर्या का रूप लेता हुआ परम समाधि दशा में परिणत हो जाता है। अतएव अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्य की क्रियापरिणति का कर्त्ता है, कर्म है, करण है, सम्प्रदान है, अपादान है, अधिकरण है, यह व्यवहार से ही कहा जाता है; निश्चय से तो प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रियापरिणति का स्वयं कर्त्ता है, स्वयं कर्म है, स्वयं करण है, स्वयं संप्रदान है, स्वयं अपादान है और स्वयं अधिकरण है; यही सिद्ध होता है।

अनादिकाल से यह जीव निश्चय षट्कारक को भूलकर अपने विकल्प द्वारा मात्र व्यवहार षट्कारक का अवलम्बन करता आ रहा है, इसलिये वह संसार का पात्र बना हुआ है; जब वह निश्चय षट्कारक का यथार्थ निर्णय करके पुरुषार्थ द्वारा अपना त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का आश्रय लेकर शुद्धात्मानुभूति प्रगट करता है तब मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है। अतः जीवन संशोधन में निश्चय षट्कारक का सम्यग्ज्ञान करना कार्यकारी है।

यहाँ यह कहा गया है कि निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का सम्बन्ध नहीं है। अतः शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य-

साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।

जिज्ञासु –

आज आपने हमें निश्चय और व्यवहार षट्कारकों के सम्बन्ध में बताया इससे हमें बहुत लाभ मिला, पर एक बात समझ में नहीं आई कि आपने कारक छह ही क्यों बताए? हमने तो सुना था कि कारक आठ होते हैं। सम्बन्ध और सम्बोधन को कारक क्यों नहीं कहा?

प्रवचनकार –

सम्बोधन का तो कारक होने का प्रश्न ही नहीं उठता, पर सम्बन्ध भी कारक नहीं है। इन दोनों का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो किसी न किसी रूप में क्रिया-व्यापार के प्रति प्रयोजक होता है उसे ही कारक कहा जाता है। सम्बन्ध और सम्बोधन क्रिया के प्रति प्रयोजक नहीं हैं, अतः इन्हें कारकों में नहीं लिया गया है।

षट्कारक व्यवस्था को समझ कर पर से दृष्टि हटाकर आत्मकेन्द्रित होने का अभ्यास रखना ! तुम्हारा कल्याण होगा ! !

प्रश्न –

१. कारक किसे कहते हैं? वे कितने होते हैं? प्रत्येक की परिभाषा दीजिए?
२. संबंध को कारक क्यों नहीं माना गया है?
३. व्यवहार और निश्चयकारकों को उदाहरणों पर घटित करके बताइये।
४. 'स्वयंभू' किसे कहते हैं?
५. आचार्य कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

पाठ ७

चतुर्दश गुणस्थान

सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य

(व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व)

जह चक्केण य चक्की, छक्खंडं साहियं अविऽघेण।
तह मइ चक्केण मया, छक्खंडं साहियं सम्म।।

"जिस प्रकार सुदर्शनचक्र के द्वारा चक्रवर्ती छह खण्डों को साधता (जीत लेता) है, उसी प्रकार मैंने (नेमिचंद्र ने) अपने बुद्धिरूपी चक्र से षट्खण्डागमरूप महान सिद्धान्त को साधा है।" अतः वे सिद्धान्त चक्रवर्ती कहलाए। ये प्रसिद्ध राजा चामुण्डराय के समकालीन थे और चामुण्डराय का समय ग्यारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध है, अतः आचार्य नेमिचंद्र भी इस समय भारत-भूमि को अलंकृत कर रहे थे।

ये कोई साधारण विद्वान नहीं थे; इनके द्वारा रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि उपलब्ध ग्रन्थ उनकी असाधारण विद्वत्ता और 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' पदवी को सार्थक करते हैं।

इन्होंने चामुण्डराय के आग्रह पर सिद्धान्त-ग्रन्थों का सार लेकर गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की है, जिसके जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड नामक दो महाधिकार हैं। जीवकाण्ड की अधिकार संख्या २२ और गाथा संख्या ७३३ है और कर्मकाण्ड की अधिकार संख्या ९ तथा गाथा संख्या ९७२ है। इस समूचे ग्रन्थ का दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित पाँच बातों का वर्णन है :- (१) बंध (२) बंध्यमान (३) बंधस्वामी (४) बंधहेतु और (५) बंधभेद।

पूर्व परम्परागत प्राप्त जैन साहित्य में आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित षट्खण्डागम सर्वाधिक प्राचीन रचना है। इसमें प्रथम खण्ड में जीव की अपेक्षा से और शेष खण्डों में जीवों और कर्मों के सम्बन्ध से अन्य अनेक विषयों का विवेचन हुआ है। इसी को लक्ष्य में रखकर नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना की और उसे जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड दो भागों में विभाजित किया। गोम्मटसार में षट्खण्डागम का पूर्ण सार आ गया है।

गोम्मटसार ग्रन्थ पर मुख्यतः चार टीकाएँ उपलब्ध हैं। एक हैं - अभयचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका 'मंदप्रबोधिका' जो जीवकाण्ड की गाथा ३८३ तक ही पाई जाती है। दूसरी केशववर्णी की संस्कृत मिश्रित कन्नड़ी टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' है जो सम्पूर्ण गोम्मटसार पर विस्तृत टीका है और जिसमें 'मंदप्रबोधिका' का पूरा अनुसरण किया गया है। तीसरी है - नेमिचन्द्राचार्य[१] की संस्कृत टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' जो पिछली दोनों टीकाओं का पूरा-पूरा अनुसरण करती हुई सम्पूर्ण गोम्मटसार पर यथेष्ट विस्तार के साथ लिखी गई है और चौथी है पण्डित टोडरमल की भाषा टीका 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' जिसमें संस्कृत टीका के विषय को खूब स्पष्ट किया गया है। उन्हीं का अनुसरण कर हिन्दी, अंग्रेजी तथा मराठी के अनुवादों का निर्माण हुआ है।

गोम्मटसार ग्रन्थ जैन विद्यालयों का नियमित पाठ्यग्रन्थ है। इसके जीवकाण्ड नामक महाधिकार के प्रथम अधिकार में गुणस्थानों की चर्चा विशद् रूप से की गई है। यह पाठ उसी को ध्यान में रखकर लिखा गया है। गुणस्थानों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए गोम्मटसार जीवकाण्ड का अध्ययन किया जाना चाहिए।

१ नेमिचंद्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य से भिन्न हैं।

चतुर्दश गुणस्थान

सब जीवों के पाँचों भावों में से यथासंभव किन्हीं के दो, किन्हीं के तीन, किन्हीं के चार और किन्हीं के पाँचों ही भाव होते हैं। ये हैं - (१) औपशमिक (२) क्षायिक (३) क्षायोपशमिक (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। ये जीवों के निज भाव हैं। इनमें प्रारम्भ के चार भाव निश्चय नय से स्वयं जीवकृत होने पर भी व्यवहार नय से यथायोग्य कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय को निमित्तकर होते हैं, इसलिए इनकी औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये संज्ञाएँ सार्थक हैं; तथा प्रत्येक जीव के अनादिनिधन, एकरूप, कर्मोपाधिनिरपेक्ष, सहज स्वभाव की 'परिणाम' संज्ञा है और ऐसा परिणाम ही पारिणामिक भाव कहलाता है। प्रकृत में 'गुण' शब्द द्वारा इन्हीं भावों का ग्रहण हुआ है। मात्र मोह और योग निमित्तक इन्हीं भावों के (गुणों के) तारतम्य से जो चौदह 'स्थान' बनते हैं, उनको चौदह गुणस्थान कहते हैं। वे निम्न प्रकार हैं :-

(१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरत सम्यक्त्व (५) देशविरत (६) प्रमत्तसंयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्तिकरण (१०) सूक्ष्मसाम्पराय (११) उपशान्तकषाय (१२) क्षीणकषाय (१३) संयोगीकेवली जिन (१४) अयोगकेवली जिन।[१]

(१) मिथ्यात्व

मिथ्या पद का अर्थ वितथ, व्यलीक, विपरीत, और असत्य है। जिन जीवों की प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थ विषयक श्रद्धा असत्य होती है, उनके समुच्चय रूप उस भाव को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। जैसे पित्तज्वर से पीड़ित जीव को मधुर रस नहीं रुचता, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्

१. मिच्छो सासन मिस्सो, अविरद सम्मोय देशविरदोय।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य।।९।।
उवसंत खीणमोहो, सजोग केवलि जिणो अयोगीय।
चउदस जीव समासा, कमेण सिद्धा य णादव्वा।।१०।।
- गोम्मटसार जीवकाण्ड

रत्नत्रयरूप आत्मधर्म नहीं रुचता। मिथ्यात्वी जीव को स्व-पर विवेक नहीं होता अर्थात् उसको स्वानुभूतिपूर्वक विपरीत अभिनिवेश रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होता तथा उसको देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती।

मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं - अगृहीत और गृहीत। एकेन्द्रियादि सभी संसारी जीवों के प्रवाह रूप से जो अज्ञानभावमय मिथ्या मान्यता चली आ रही है, जिससे जीव की देहादि जड़ पदार्थों में और उनको निमित्त कर हुए रागादि भावों में एकत्वबुद्धि बनी रहती है, वह अगृहीत मिथ्यादर्शन है। इसके सद्भाव में जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले जीवों द्वारा कल्पित जो अन्यथा मान्यता नयी अंगीकार की जाती है, उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

(२) सासादन

सम्यग्दर्शन की विराधना को आसादन कहते हैं तथा उसके साथ जो भाव होता है उसको सासादन कहते हैं। जिस औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव ने अनन्तानुबंधी कषाय के उदयवश औपशमिक सम्यग्दर्शन के काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलिकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन रूपी रत्नपर्वत के शिखर से च्युत होकर मिथ्यादर्शन रूपी भूमि के सन्मुख होते हुए सम्यग्दर्शन का तो नाश कर दिया है किन्तु मिथ्यादर्शन को प्राप्त नहीं हुआ है, उस जीव की उस अवस्था को सासादन गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान का पूरा नाम सासादन सम्यक्त्व है। सासादन पद के साथ सम्यक्त्व पद का प्रयोग भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा हुआ है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

(३) मिश्र

जिस गुणस्थान में जीव सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदयवश समीचीन और मिथ्या उभयरूप श्रद्धा युगपत् होती है, उसकी उस श्रद्धा को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। जिस प्रकार दही और गुड़ के मिलाने पर उनका मिला हुआ परिणाम (स्वाद) युगपत अनुभव में आता है, उसी प्रकार ऐसी श्रद्धा वाले जीव के समीचीन और मिथ्या उभयरूप श्रद्धा होती है। यहाँ अनन्तानुबंधी कषाय का उदय नहीं है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

इस गुणस्थान से सीधे देशविरत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती तथा यहाँ परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध व मरण तथा मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है।

(४) अविरत सम्यक्त्व

निश्चय सम्यग्दर्शन से सहित और निश्चय व्रत (अणुव्रत और महाव्रत) से रहित अवस्था ही अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान कहलाता है।

जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति क्षयोपशम आदि लब्धियों तथा चतुर्थ गुणस्थान के योग्य बाह्य आचार से सम्पन्न होने पर स्वपुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख होने पर आत्मानुभूतिपूर्वक होती है अर्थात् वह अपने आत्मा का सच्चा स्वरूप समझता है कि "मैं तो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला ज्ञायक परमात्मा हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, अन्य सब ज्ञेय हैं, पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अनेक प्रकार के विकारी भाव जो पर्याय में होते हैं, वे मेरा स्वरूप नहीं हैं, ज्ञाता स्वभाव की दृष्टि एवं लीनता करते ही वे नाश को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उत्पन्न ही नहीं होते।" इस प्रकार निर्णयपूर्वक दृष्टि स्वसन्मुख होकर निर्विकल्प आनन्दरूप परिणति का साक्षात् अनुभव करती है, तथा निर्विकल्प अनुभव के छूट जाने पर भी मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी कषायों के अभावस्वरूप आत्मा की शुद्ध परिणति निरन्तर बनी रहती है, उसको अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं।

इसके तीन भेद होते हैं :-

(१) औपशमिक (२) क्षायोपशमिक (३) क्षायिक

इन तीन प्रकार के सम्यग्दर्शनों में से किसी एक सम्यग्दर्शन के साथ जब तक इस जीव के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के उदयवश अविरतिरूप परिणाम बना रहता है तब तक उसके अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान रहता है। अविरत सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञान से सम्पन्न होने के कारण अभिप्राय की अपेक्षा विषयों के प्रति सहज उदासीन होता है। चरणानुयोग के अनुसार आचरण में उसके पंचेन्द्रियों के विषयों का तथा त्रस-स्थावर जीवों के घात का त्याग नहीं होता। इसलिए इसके बारह प्रकार की अविरति पाई जाती है।

(५) देशविरत

चतुर्थ गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा की शुद्ध परिणति को स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाता हुआ पंचम गुणस्थान को प्राप्त करता है। उसको आत्मा का निर्विकल्प अनुभव (चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा) शीघ्र-शीघ्र होने लगता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है। आत्मिक शांति बढ़ जाने के कारण पर से उदासीनता बढ़ जाती है तथा सहज देशव्रत के शुभ भाव होते हैं। अतः वह श्रावक के व्रतों का यथावत् पालन करता है परन्तु अपनी शुद्ध परिणति विशेष उग्र नहीं होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का सद्भाव बने रहने से भावरूप मुनिपद का अधिकारी नहीं हो सकता है। यह अवस्था ही देशविरत नामक पंचम गुणस्थान है। इसे व्रताव्रत या संयतासंयत गुणस्थान भी कहते हैं, क्योंकि अंतरंग में निश्चय व्रताव्रत या निश्चय संयमासंयम रूप दशा होती है और बाह्य में एक ही समय में त्रसवध से विरत और स्थावरवध से अविरत रहता है। इस गुणस्थान वाले श्रावक के अणुव्रत नियम से होते हैं। ग्यारह प्रतिमाधारी आत्मज्ञानी क्षुल्लक, ऐलक व आर्यिका इसी गुणस्थान में आते हैं।

(६) प्रमत्तसंयत

जिस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ने निज द्रव्याश्रित पुरुषार्थ द्वारा पंचम गुणस्थान से अधिक शुद्धि प्राप्त करके निश्चय सकल संयम प्रगट किया है और साथ में कुछ प्रमाद भी वर्तता है, उसे प्रमत्तसंयम गुणस्थानवर्ती कहते हैं। अनन्तानुबंधी आदिक बारह कषायों का अभाव होने से पूर्ण संयमाभाव होने के साथ संज्वलन कषाय और नौकषाय की यथासंभव तीव्रता रहने से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है, इसलिए इस गुणस्थान की प्रमत्तसंयत संज्ञा सार्थक है।

इस गुणस्थान में मुनि महाव्रतों को अपेक्षा सविकल्प अवस्था में ही होते हैं, इसलिए यद्यपि इसमें उपदेश का आदान-प्रदान, आहारादि का ग्रहण, मल आदिक का उत्सर्ग, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आना-जाना इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं तथापि साथ-साथ मुनियोग्य आन्तरिक शुद्ध परिणति (निश्चय संयम दशा) निरन्तर रहती है और उसके अनुरूप २८ मूलगुण व उत्तरगुणों का और शील के सब भेदों का यथावत पालन भी सहज होता है। वे २८ मूलगुण निम्न प्रकार हैं :- ५ महाव्रत, ५ समिति, ६ आवश्यक,

५ इन्द्रियसंयम, १ नग्नता, १ केशलुंचन, १ अस्नानता, १ भूमिशयन, १ अदंत धोवन, १ खड़े रहकर आहार लेना, १ एकभुक्ति।

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपाल कथा, ये चार विकथा; क्रोध, मान, माया और रलोभ, ये चार कषाय; पाँच इन्द्रियाँ; निद्रा और प्रणय (स्नेह) ये १५ प्रमाद हैं। इनके प्रत्येक और संयोगी सब मिलाकर ८० भेद होते हैं। यह प्रमाद संयम में मल उत्पन्न करता हुआ भी छठे गुणस्थान योग्य निश्चय संयम का घात नहीं करता।

छठे गुणस्थान में (यथोचित शुद्ध परिणति सहित) सविकल्पता, सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता होती है, तथा दोनों का काल अंतर्मुहूर्त ही होता है; अतः मुनिराज हजारों वर्ष तक भी मुनिदशा में रहें तो भी उनको अंतर्मुहूर्त में गुणस्थान का पलटन होता रहता है अर्थात् श्रेणी में आरोहण नहीं करने वाले प्रत्येक मुनिराज मुनिदशा में रहते हुए अंतर्मुहूर्त में सातवें गुणस्थान से छठे में आते हैं और फिर छठे से सातवें में चले जाते हैं, ऐसा (सविकल्प-निर्विकल्प का पलटन) अनवरत होता ही रहता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि मुनिदशा शुरू होते ही सर्वप्रथम सातवाँ गुणस्थान आता है, पीछे छठा होता है।

(७) अप्रमत्तसंयत

जो भावलिंगी मुनिराज पूर्वोक्त १५ प्रकार के प्रमाद रहित हैं, उन्हें अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहते हैं। इनके अनन्तानुबंधी आदि १२ कषायों का अभाव तो होता ही है, साथ ही संज्वलन कषायों तथा नोकषायों की तीव्रता न होकर सप्तम गुणस्थान योग्य मंदता होती है, अतः इनके मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद नहीं होता और मूलगुण उत्तरगुण आदि की सहज निरतिचार परिणति बनी रहती है, इसलिए इसकी अप्रमत्तसंयत संज्ञा सार्थक है। इस गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं रहते और निर्विकल्प आत्मा के अनुभव रूप ध्यान ही वर्तता है। सातवें सहित आगे के सब गुणस्थानों की निर्विकल्प स्थिति ही होती है।

इस गुणस्थान के दो भेद हैं :-

(१) स्वस्थान अप्रमत्तसंयत (२) सातिशय अप्रमत्तसंयत

जो संयत क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी पर आरोहण न कर निरन्तर एक-एक अन्तर्मुहूर्त में अप्रमत्त भाव से प्रमत्तभाव को और प्रमत्तभाव से अप्रमत्तभाव को प्राप्त होते रहते हैं, उनके उस गुण की स्वस्थान अप्रमत्तसंयत संज्ञा है।

उपरोक्त मुनिराज उग्र पुरुषार्थपूर्वक आत्मरमणता विशेष बढ़ जाने पर श्रेणी आरोहण के सन्मुख होकर अधःप्रवृत्तकरणरूप विशुद्धि को प्राप्त होते हैं, उनके उस गुण की सातिशय अप्रमत्तसंयत संज्ञा है। वे जब क्षपक श्रेणी आरोहण के योग्य उग्र पुरुषार्थ द्वारा आत्मलीनता करते हैं तो अन्तर्मुहूर्त में ८, ९, १० और १२वें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं और उनके चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है तथा अंतर्मुहूर्त में वे केवलज्ञान को (१३वें गुणस्थान को) अवश्य प्राप्त करते हैं। यदि वे उपशम श्रेणी के योग्य मंद पुरुषार्थ द्वारा आत्मलीनता करते हैं तो अंतर्मुहूर्त में ८, ९, १० और ११वें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं और उनके उपरोक्त २१ प्रकृतियों का क्षय न होकर मात्र उपशम होता है।

अधःप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ 'करण' का अर्थ परिणाम है। अधःप्रवृत्तकरण स्थित जीव को प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धता होती रहती है और भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उपरितन समयवर्ती (आगे-आगे के समयवर्ती) तथा अधस्तन समयवर्ती (पीछे-पीछे के समयवर्ती) जीवों के परिणाम विसदृश भी होते हैं तथा सदृश भी होते हैं। ऐसे अधःप्रवृत्तकरण युक्त जीवों को सातिशय अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

(८) अपूर्वकरण

इस गुणस्थान में स्थित जीवों के परिणामों की संज्ञा अपूर्वकरण है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ भी प्रत्येक जीव के परिणाम में प्रत्येक समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उपरितन समयवर्ती जीव के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीव के परिणामों से सदा विसदृश ही (अपूर्व ही, विशेष विशुद्धि वाले ही) होते हैं, और अभिन्न समयवर्ती[1] जीवों के परिणाम परस्पर सदृश भी होते हैं तथा विसदृश भी होते हैं। इस गुणस्थान में स्थित जीवों की इस प्रकार की परिणाम-धारा होने से इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। जो उपशम श्रेणी पर आरोहण करते हैं उनके भी ये परिणाम होते हैं, तथा जो क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते हैं उनके भी ये परिणाम होते हैं।

१ उदाहरण रूप से किन्हीं दो जीवों को अपूर्वकरण प्रारम्भ किये हुए ५-५ समय हुए हों तथा उन दोनों जीवों को अभिन्न समयवर्ती अर्थात् एक समयवर्ती कहा जाता है।

(९) अनिवृत्तिकरण

इस गुणस्थान में स्थित जीवों के परिणामों की संज्ञा अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्ति अर्थात् अभेद (सदृश) और करण अर्थात् परिणाम। यहाँ भी प्रत्येक जीव के एक समय में एक ही परिणाम होता है जो प्रत्येक समय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए होता है जो प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा, उपरितन समयवर्ती जीव का परिणाम अधस्तनवर्ती जीव के परिणाम से विसदृश ही (अनन्तगुणी विशुद्धि वाला ही) होता है और अभिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदा सदृश ही होते हैं। इस गुणस्थान में स्थित जीवों की ऐसी परिणाम-धारा होने से इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण है। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान में स्थित जीव ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा मोहनीय की २० प्रकृतियों की उपशमना करते हैं या मोहनीय की २० प्रकृतियों की तथा नाम कर्म की १३ प्रकृतियों की क्षपणा करते हैं। इनके बध्यमान आयु का अभाव होता है।

(१०) सूक्ष्म साम्पराय

जिन जीवों के सूक्ष्म भाव को प्राप्त साम्पराय अर्थात् अबुद्धिपूर्वक होने वाले सूक्ष्म लोभ कषाय के साथ अपने अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए एक समय में एक ही (नियत विशुद्धि वाला ही) परिणाम होता है और जिनके निरन्तर कर्म प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण होता रहता है, उनके उस गुणस्थान की सूक्ष्म साम्पराय संज्ञा है।

(११) उपशान्तकषाय

जिस गुणस्थान में मलिन जल में कतक फल के डालने पर स्वच्छ हुए जल के समान या शरद् ऋतु में स्वच्छ हुए जल के समान जीवों की द्रव्य-भावरूप कषाय उपशान्त रहती है, उनके गुणस्थान की उपशांत कषाय संज्ञा है। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है और इसमें पूर्ण वीतरागता के साथ छद्मस्थापना पाया जाने से इसे उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ कहते हैं। पिछले गुणस्थानों में कषायों के तारतम्य से जैसा परिणाम भेद दृष्टिगोचर होता है, वीतराग भाव की प्राप्ति होने से वैसा परिणाम भेद इस सहित आगे के गुणस्थानों में दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ चार घाति कर्मों में से मोहनीय कर्म का उपशम होता है, बाकी तीन कर्मों का क्षयोपशम रहता है। इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर अथवा आयु पूर्ण होने पर जीव का इस गुणस्थान से पतन होता है।

(१२) क्षीणकषाय

जिन जीवों के भाव कषायों का सर्वथा क्षय हो जाने से स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल के समान पूर्ण निर्मल अर्थात् द्रव्यभाव उभयरूप मोहकर्मों का सर्वथा अभाव होने से पूर्ण वीतरागता को प्राप्त एकरूप होते हैं, उनके उस गुणस्थान की क्षीणकषाय संज्ञा है। इसका भी काल अंतर्मुहूर्त है। इसमें पूर्ण वीतरागता के साथ छद्मस्थपना पाया जाने से इसे क्षीण कषाय वीतरागछद्मस्थ कहते हैं। इस गुणस्थान में स्थित यथाख्यात चारित्र के धारक मुनिराज को मोहनीय कर्म का तो अत्यन्त क्षय होता है और शेष तीन घाति कर्मों का क्षयोपशम रहता है, अन्तर्मुहूर्त में वे उनका भी क्षय करके तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं।

(१३) सयोगकेवली जिन

जिन जीवों का केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो चुका है और जिन्हें नौ केवल-लब्धियाँ (क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) प्रगट होने से परमात्मा संज्ञा प्राप्त हुई है; वे जीव इन्द्रिय और आलोक आदि की अपेक्षा रहित असहाय ज्ञान-दर्शन युक्त होने से 'केवली'; योग से युक्त होने के कारण 'सयोग' और द्रव्य-भाव उभयरूप घाति कर्मों पर विजय प्राप्त करने के कारण 'जिन' कहलाते हैं; उनके इस गुणस्थान की संज्ञा सयोगकेवली जिन है। यही केवली भगवान अपनी दिव्यध्वनि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं।

इस गुणस्थान में योग का कंपन होने से एक समय मात्र की स्थिति का साता वेदनीय का आस्रव होता है, लेकिन कषाय का अभाव होने से बंध नहीं होता।

(१४) अयोगकेवली जिन

इस गुणस्थान में स्थित अरहन्त भगवान मन, वचन, काय के योगों से रहित और केवलज्ञान सहित होने से इस गुणस्थान की संज्ञा अयोगकेवली जिन है। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने के बराबर है। इस गुणस्थान के अंतिम दो समय में अघाति कर्मों की सर्व कर्म प्रकृतियों का क्षय करके ये भगवान सिद्धपने को प्राप्त होते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी

जो जीव पूर्वोक्त संसार की भूमिकास्वरूप चौदह गुणस्थानों को उल्लंघन कर द्रव्य-भाव उभयरूप ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों से रहित हो गए हैं; निराकुल लक्षण आत्माधीन अनन्त सुख का निरन्तर भोग करते हैं; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित होने के कारण निरंजन हैं; सिद्ध पर्याय को छोड़कर पुनः दूसरी पर्याय को प्राप्त नहीं होते हैं, इसलिए नित्य हैं; द्रव्य-भाव उभयरूप आठ कर्मों के नाश होने से सम्यक्त्व आदि आठ गुणों (क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व) को प्राप्त हुए हैं; आत्मा संबंधी कोई कार्य करने के लिए शेष न रहने से कृतकृत्य हैं; और चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं तथा नीचे जाने रूप स्वभाव के न होकर मात्र लोक के अग्रभाग तक ऊपर जाने रूप स्वभाव के होने से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं; उन्हें सिद्ध कहते हैं।

प्रश्न -

१. गुणस्थान किसे कहते हैं? वे कितने प्रकार के हैं? नाम सहित गिनाइये।
२. निम्नलिखित में परस्पर अन्तर बताइये :-
   (क) प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत।
   (ख) अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।
   (ग) उपशांतकषाय और क्षीणकषाय।
   (घ) सयोगकेवली जिन और अयोगकेवली जिन।
३. निम्नलिखित गुणस्थानों की परिभाषा दीजिए :-
   सासादन, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, मिथ्यात्व।
४. सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

पाठ ८

तीर्थंकर भगवान महावीर

तीर्थंकर भगवान महावीर भरतक्षेत्र व इस युग के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थंकर और हो चुके थे।

भगवान अनन्त होते हैं। पर तीर्थंकर एक युग में व भरत क्षेत्र में चौबीस ही होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर भगवान तो नियम से होते ही हैं; पर प्रत्येक भगवान, तीर्थंकर नहीं। तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान हो सकते हैं। प्रत्येक आत्मा भगवान बन सकता है। जिससे संसार-सागर तिरा जाय उसे तीर्थ कहते हैं और जो ऐसे तीर्थ को करें अर्थात् संसार-सागर से पार उतरें तथा उतरने का मार्ग बतावें, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जितने गूढ़, गम्भीर व ग्राह्य हैं; उनका जीवन उतना ही सादा, सरल एवं सपाट है; उसमें विविधताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। संक्षेप में उनकी जीवन गाथा मात्र इतनी ही है कि वे आरंभ के तीस वर्षों में वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत् रहे। बीच के बारह वर्षों में जंगल में परम मंगल की साधना में एकान्त आत्मआराधना-रत रहे और अंतिम तीस वर्षों में प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय धर्मतीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे। महावीर का जीवन घटना-बहुल नहीं है। घटनाओं में उनके व्यक्तित्व को खोजना व्यर्थ है। ऐसी कौनसी लौकिक घटना शेष है जो उनके अनन्त पूर्व-भवों में उनके साथ न घटी हो?

महावीर का जन्म वैशाली गणतंत्र के प्रसिद्ध राजनेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के उदर से कुण्डग्राम में हुआ था। उनकी माँ वैशाली

गणतंत्र के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री थीं। वे आज से २५७१ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन नाथ (ज्ञातृ) वंशीय क्षत्रीय कुल में जन्मे थे। महावीर का नाम उनके माता-पिता ने उनको वृद्धिंगत नित्य होते देख वर्द्धमान रखा।

उनके जन्म का उत्सव उनके माता-पिता व परिजन-पुरजनों ने तो बहुत उत्साह के साथ मनाया ही था, साथ ही भावी तीर्थंकर होने से इन्द्रों और देवों ने भी आकर महान उत्सव किया था जिसे जन्म-कल्याणक महोत्सव कहते हैं। इन्द्र ने उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर ठाट-बाट से जन्माभिषेक किया था, जिसका विस्तृत वर्णन जैन पुराणों में उपलब्ध है।

उनके तीर्थंकरत्व का पता तो उनके गर्भ में आने के पूर्व ही चल गया था। एक दिन रात्रि के पिछले पहर में शान्तचित्त निद्रावस्था में प्रियकारिणी माता त्रिशला ने महान शुभ के सूचक निम्नांकित सोलह स्वप्न देखे :-

(१) महोन्मत्त गज (२) ऊँचे कंधों वाला शुभ्र बैल (३) गर्जता सिंह (४) कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी (५) दो सुगंधित मालाएँ (६) नक्षत्रों की सभा में बैठा चंद्र (७) उगता हुआ सूर्य (८) कमल के पत्तों से ढँके दो स्वर्ण-कलश (९) जलाशय में क्रीड़ारत मीन-युगल (१०) स्वच्छ जल से भरपूर जलाशय (११) गंभीर घोष करता सागर (१२) मणि-जड़ित सिंहासन (१३) रत्नों से प्रकाशित देव-विमान (१४) धरणेन्द्र का गगनचुम्बी विशाल भवन (१५) रत्नों की राशि और (१६) निर्धूम अग्नि।

प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर माँ त्रिशला ने राजा सिद्धार्थ को जब उक्त स्वप्न-प्रसंग सुनाया और उनका फल जानना चाहा तब निमित्त-शास्त्र के वेत्ता राजा सिद्धार्थ पुलकित हो उठे। शुभ स्वप्नों का शुभतम फल उनकी वाणी से पहिले उनकी प्रफुल्ल मुखाकृति ने कह दिया। उन्होंने बताया कि तुम्हारे उदर से तीन लोक के हृदयों पर शासन करने वाले धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, महाभाग्यशाली, भावी तीर्थंकर बालक का जन्म होगा। आज तुम्हारी कुक्षि उसी प्रकार धन्य हो गई जिस प्रकार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) के गर्भभार से मरुदेवी की हुई थी।

समग्रतः ये स्वप्न बताते हैं कि तुम्हारा पुत्र पुष्पों के समान कोमल, चन्द्रमा शीतल, सूर्यसा प्रतापी, अज्ञानरूप अन्धकार का नाशक, गजसा बलिष्ठ, वृषभसा कर्मठ, सागरसा गंभीर, रत्नों की राशिसा निर्मल एवं निर्धूम अग्नि-शिखासा जाज्वल्यमान होगा।

आषाढ़ शुक्ला ६ के दिन बालक वर्द्धमान माँ के गर्भ में आए।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही स्वस्थ, सुन्दर एवं आकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे। वे दोज के चन्द्र की भाँति वृद्धिंगत होते हुए अपने वर्द्धमान नाम को सार्थक करने लगे। उनकी कंचनवर्णी काया अपनी कांति से सबको आकर्षित करती थी। उनके रूप सौंदर्य का पान करने के लिए सुरपति (इन्द्र) ने हजार नेत्र बनाये थे।

वे आत्मज्ञानी विचारवान, विवेकी और निर्भीक बालक थे। डरना तो उन्होंने सीखा ही न था। वे साहस के पुतले थे। अतः उन्हें बचपन से ही वीर, अतिवीर, कहा जाने लगा था। उनके पाँच नाम प्रसिद्ध हैं - वीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान और महावीर।

वे प्रत्युत्पन्नमति थे और विपत्तियों में अपना संतुलन नहीं खोते थे। एक दिन अपनी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से माता-पिता, परिजनों और पुरजनों को आनन्द देने वाले बालक वर्द्धमान अन्य राजकुमारों के साथ क्रीड़ावन में खेल रहे थे। खेल ही खेल में अन्य बालकों के साथ वर्द्धमान भी एक पेड़ पर चढ़ गये। इतने में ही एक भयंकर काला सर्प आकर वृक्ष से लिपट गया और क्रोधावेश में वीरों को भी कम्पित कर देने वाली फुँकार करने लगा। विषम स्थिति में अपने को पाकर अन्य बालक तो भय से काँपने लगे पर धीर-वीर बालक वर्द्धमान को वह भयंकर नागराज विचलित न कर सका। महावीर को अपनी ओर निर्भय और निःशंक आता देख नागराज निर्मद होकर स्वयं अपने रास्ते चलता बना।

इसी प्रकार एक बार एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और गजशाला के स्तम्भ को तोड़कर नगर में विप्लव मचाने लगा। सारे नगर में खलबली मच गई। सभी लोग घबड़ाकर यहाँ-वहाँ भागने लगे पर राजकुमार वर्द्धमान ने अपना धैर्य नहीं खोया तथा शक्ति और युक्ति से शीघ्र ही गजराज पर काबू पा लिया। राजकुमार वर्द्धमान की वीरता व धैर्य की चर्चा नगर में सर्वत्र होने लगी।

वे प्रतिभासम्पन्न राजकुमार थे। बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान चुटकियों में कर दिया करते थे। वे शान्त प्रकृति के तो थे ही, युवावस्था में प्रवेश करते ही उनकी गंभीरता और बढ़ गई। वे अत्यन्त एकान्तप्रिय हो गये। वे निरन्तर चिन्तवन में ही लगे रहते थे और गूढ़ तत्त्वचर्चाएँ किया करते थे। तत्त्वसम्बन्धी बड़ी से बड़ी शंकाएँ तत्त्व-जिज्ञासु उनसे करते थे और बातों ही बातों में वे

उनका समाधान कर देते थे। बहुत-सी शंकाओं का समाधान तो उनकी सौम्य आकृति ही कर देती थी। बड़े-बड़े ऋषिगणों की शंकाएँ भी उनके दर्शन मात्र से शाँत हो जाती थीं। वे शंकाओं का समाधान न करते थे वरन् स्वयं समाधान थे।

एक दिन वे राजमहल की चौथी मंजिल पर एकान्त में विचार-मग्न बैठे थे। उनके बाल-साथी उनसे मिलने को आए और माँ त्रिशला से पूछने लगे 'वर्द्धमान' कहाँ है? गृहकार्य में संलग्न माँ ने सहज ही कह दिया 'ऊपर'। सब बालक ऊपर को दौड़े और हाँफते हुए सातवीं मंजिल पर पहुँचे, पर वहाँ वर्द्धमान को न पाया। जब उन्होंने स्वाध्याय में संलग्न राजा सिद्धार्थ से वर्द्धमान के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने बिना गर्दन उठाए ही कह दिया 'नीचे'। माँ और पिता के परस्पर विरुद्ध कथनों को सुनकर बालक असमंजस में पड़ गए। अन्ततः उन्होंने एक-एक मंजिल खोजना आरंभ किया और चौथी मंजिल पर वर्द्धमान को विचार-मग्न बैठे पाया। सब साथियों ने उलाहने के स्वर में कहा, 'तुम यहाँ छिपे-छिपे दार्शनिकों की सी मुद्रा में बैठे हो और हमने सातों मंजिलें छान डालीं'। 'माँ से क्यों नहीं पूछा?' वर्द्धमान ने सहज प्रश्न किया। साथी बोले "पूछने से ही तो सब कुछ गड़बड़ हुआ, माँ कहती हैं - 'ऊपर' और पिताजी 'नीचे'। कहाँ खोजें? कौन सत्य है?" वर्द्धमान ने कहा "दोनों सत्य हैं, मैं चौथी मंजिल पर होने से माँ की अपेक्षा 'ऊपर' और पिताजी की अपेक्षा 'नीचे' हूँ, क्योंकि माँ पहिली मंजिल पर और पिताजी सातवीं मंजिल पर हैं। इतना भी नहीं समझते? ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष हैं। बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तु की स्थिति पर से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है।" इस प्रकार बालक वर्द्धमान गहन सिद्धान्तों को बालकों को भी सहज समझा देते थे।

दुनियाँ ने उन्हें अपने रंग में रंगना चाहा पर आत्मा के रंग में सर्वांग सराबोर महावीर पर दुनियाँ का रंग न चढ़ा। यौवन ने अपने प्रलोभनों के पांसे फैंके किन्तु उसके भी दाँव खाली गए। माता-पिता की ममता ने उन्हें रोकना चाहा पर माँ के आंसुओं की बाढ़ भी उन्हें बहा न सकी।

उनके रूप-सौंदर्य एवं बल-विक्रम से प्रभावित हो अनेक राजागण अपनी अप्सराओं के सौंदर्य को लज्जित कर देने वाली कन्याओं की शादी उनसे करने के प्रस्ताव लेकर आये, पर अनेक राजकन्याओं के हृदय में वास करने वाले महावीर का मन उन कन्याओं में न था। माता-पिता ने भी उनसे शादी करने का

बहुत आग्रह किया, पर वे तो इन्द्रियनिग्रह का निश्चय कर चुके थे। चारों ओर से उन्हें गृहस्थी के बन्धन में बाँधने के अनेक यत्न किए गए, पर वे अबन्ध-स्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर संसार के सर्व बंधनों से मुक्त होने का निश्चय कर चुके थे। जो मोह-बन्धन तोड़ चुका हो, उसे कौन बाँध सकता है?

परिणामस्वरूप तीस वर्षीय भरे यौवन में मंगसिर कृष्ण दशमी के दिन उन्होंने घर-बार छोड़ा। नग्न दिगम्बर हो निर्जन वन में आत्मसाधनारत हो गए। उनके तप (दीक्षा) कल्याणक के शुभ-प्रसंग पर लौकान्तिक देवों ने आकर विनयपूर्वक उनके इस कार्य की भक्तिपूर्वक प्रशंसा की। मुनिराज वर्द्धमान मौन रहते थे, किसी से बातचीत नहीं करते थे। निरन्तर आत्मचिन्तन में ही लगे रहते थे। यहाँ तक कि स्नान और दन्तधोवन के विकल्प से भी परे थे। शत्रु और मित्र में समभाव रखने वाले मुनिराज महावीर गिरि-कन्दराओं में वास करते थे। शीत, ग्रीष्म, वर्षादि ऋतुओं के प्रचण्ड वेग से वे तनिक भी विचलित न होते थे।

उनकी सौम्यमूर्ति, स्वाभाविक सरलता, अहिंसामय जीवन एवं शान्त स्वभाव को देखकर बहुधा वन्यपशु स्वभावगत वैर-विरोध छोड़कर साम्यभाव धारण करते थे। अहि-नकुल तथा गाय और शेर एक घाट पानी पीते थे। जहाँ वे ठहरते, वातावरण सहज शान्तिमय हो जाता था।

कभी कदाचित् भोजन का विकल्प उठता तो अनेक अटपटी प्रतिज्ञाएँ लेकर वे भोजन के लिए समीपस्थ नगर की ओर आते। यदि कोई श्रावक उनकी प्रतिज्ञाओं के अनुरूप शुद्ध, सात्विक आहार नवधाभक्तिपूर्वक देता तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक खड़े-खड़े निरीह भाव से आहार ग्रहण कर शीघ्र वन को वापिस चले जाते थे। मुनिराज महावीर का आहार एक बार अति विपन्नावस्था को प्राप्त सती चंदनवाला के हाथ से भी हुआ था।

इस प्रकार अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते बारह वर्ष बीत गए। बयालीस वर्ष की अवस्था में बैसाख शुक्ला दशमी के दिन आत्म-निमग्नता की दशा में उन्होंने अन्तर में विद्यमान सूक्ष्म राग का भी अभाव कर पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त कर ली। पूर्ण वीतरागता प्राप्त होते ही उन्हें परिपूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) की भी प्राप्ति हुई। मोह-राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को पूर्णतया जीत लेने से वे सच्चे महावीर बने। पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होने से वे भगवान कहलाए। उसी समय तीर्थंकर

नामक महा पुण्योदय से उन्हें तीर्थंकर पद प्राप्त हुआ और वे तीर्थंकर भगवान महावीर के रूप में विश्रुत हुए। उनका उपदेश श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन आरंभ हुआ। यही कारण है इस दिन सारे भारतवर्ष में वीर-शासन जयन्ती मनाई जाती है।

उनका तत्त्वोपदेश होने के लिए इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण की रचना की। तीर्थंकर की धर्मसभा को 'समवशरण' कहा जाता है। उनकी धर्मसभा में प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार प्राप्त था। छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं था। जिसका आधार अहिंसक है, जिसने विचार में वस्तु-तत्त्व को स्पर्श किया है, तथा जो अपने में उतर चुका है, चाहे वह चांडाल ही क्यों न हो; वह मानव ही नहीं, देव से भी बढ़कर है। कहा भी है :-

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्।।[१]

उनकी धर्मसभा में राजा-रंक, गरीब-अमीर, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्म-श्रवण करते थे। यहाँ तक कि उसमें मानवों-देवों के साथ-साथ पशुओं के बैठने की भी व्यवस्था थी और बहुत से पशुगण भी शान्तिपूर्वक धर्मश्रवण करते थे। सर्वप्राणी समभाव जैसा महावीर की धर्मसभा में प्राप्त था वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनके द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ में मुनि-संघ और श्रावक-संघ के साथ-साथ आर्यिका-संघ और श्राविका-संघ भी थे।

अनेक विरोधी विद्वान भी उनके उपदेशों से प्रभावित होकर अपनी परम्पराओं को त्याग कर उनके शिष्य बने। प्रमुख विरोधी विद्वान इन्द्रभूति गौतम तो उनके पट्टशिष्यों में से हैं। वे ही उनके प्रथम गणधर बने जो कि गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे भगवान महावीर के शिष्य कैसे बने, इसका विवरण निम्न प्रकार प्राप्त होता है :-

इन्द्रभूति गौतम वेद-वेदांगों के पारंगत विद्वान थे। उनके पाँच सौ शिष्य थे। इन्द्र ने जब यह अनुभव किया कि भगवान की दिव्यध्वनि को पूर्णतः धारण करने में समर्थ उनका पट्टशिष्य बनने के योग्य इन्द्रभूति गौतम ही है, तब वह वृद्ध ब्राह्मण के वेष में उनके आश्रम में पहुँचा। इन्द्र ने इन्द्रभूति के समक्ष

१ आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक २८

एक छन्द प्रस्तुत किया एवं अपने को महावीर का शिष्य बताते हुए उसका अर्थ समझने की जिज्ञासा प्रकट की। वह श्लोक इस प्रकार है :-

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्याः।
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः ।।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः।।

इन्द्रभूति विचारमग्न हो सोचने लगे - ये छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय आदि क्या है? अपने तत्संबंधी अज्ञान को दर्प में दबाते हुए इन्द्रभूति ने इन्द्र से कहा - इस सम्बन्ध में मैं तुम्हारे गुरु से ही चर्चा करूँगा। चलो! वे कहाँ हैं? मैं उन्हीं के पास चलता हूँ। इन्द्रभूति के सद्धर्म प्राप्ति का काल आ गया था, साथ ही भगवान की दिव्य-ध्वनि खिरने का काल भी आ चुका था। समवशरण के निकट आते ही उनके विचारों में कठोरता का स्थान कोमलता ने ले लिया। मानस्तंभ को देखते ही उनका मान गल गया और उन्होंने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली। उनकी योग्यता और भगवान महावीर की महत्ता ने उन्हें प्रथम गणधर बनाया। इसके अतिरिक्त उनके दस गणधर और थे, जिनके नाम हैं :- (१) अग्निभूति (२) वायुभूति (३) आर्यव्यक्त (४) सुधर्मा (५) मंडित (६) मौर्यपुत्र (७) अकंपित (८) अचलभ्राता (९) मेतार्य और (१०) प्रभास।

श्रावक शिष्यों में मगध सम्राट महाराजा श्रेणिक (विम्बसार) प्रमुख थे।

लगातार तीस वर्ष तक सारे भारतवर्ष में उनका विहार होता रहा। उनका उपदेश इस प्रकार होता था कि सब अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते थे। उनके उपदेश को दिव्य-ध्वनि कहा जाता है। उन्होंने अपनी दिव्यवाणी में जीवादि सर्व द्रव्यों की पूर्ण रूप से स्वतंत्रता की घोषणा की। उनका कहना था कि प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का मार्ग स्वावलम्बन है। रंग, राग और भेद से भिन्न शुद्ध निजात्मा पर दृष्टि केन्द्रित करना ही स्वावलम्बन है। अपने बल पर ही स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतंत्रता भीख में प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है और न उसे दूसरों के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

सब आत्माएँ स्वतंत्र भिन्न-भिन्न हैं; एक नहीं, पर वे एक-सी अवश्य है, बराबर हैं, कोई छोटी-बड़ी नहीं। अतः उन्होंने कहा :-

१. अपने समान दूसरी आत्माओं को जानो।
२. सब आत्माएँ समान हैं, पर एक नहीं।
३. यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है।
४. प्रत्येक प्राणी अपनी भूल से स्वयं दुःखी है और अपनी भूल सुधार कर सुखी भी हो सकता है।

भगवान महावीर ने जो कहा वह कोई नया सत्य नहीं था। सत्य में नये-पुराने का भेद कैसा? उन्होंने जो कहा वह सदा से है, सनातन है। उन्होंने सत्य की स्थापना नहीं, सत्य का उद्घाटन किया है। उन्होंने कोई नया धर्म स्थापित नहीं किया। धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं। वस्तु का स्वभाव बनाया नहीं जा सकता। जो बनाया जा सके वह स्वभाव कैसा? वह तो जाना जाता है। कर्तृत्व के अहंकार एवं अपनत्व के ममकार से दूर रह कर जो स्व और पर को समग्र रूप से अप्रभावित होकर एक समय में परिपूर्ण जाने, वही भगवान है। तीर्थंकर भगवान वस्तु स्वरूप को जानते हैं, बताते हैं, बनाते नहीं।

वे तीर्थंकर थे। उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया उन्होंने जो उपदेश दिया उसे आचार्य समन्तभद्र ने सर्वोदय तीर्थ कहा है :-

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पम्।
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तम्।
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।।[१]

हे भगवान महावीर! आपका सर्वोदय तीर्थ सर्व धर्मों को लिए हुए हैं। उसमें मुख्य और गौण की विवक्षा से कथन है, अतः कोई विरोध नहीं आता; किन्तु अन्य वादियों के कथन निरपेक्ष होने से सम्पूर्णतः वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। आपका शासन (तत्त्वोपदेश) सर्व आपदाओं का अन्त करने में और समस्त संसारी प्राणियों को संसारसागर से पार करने में समर्थ है, अतः सर्वोदय तीर्थ है।

१ युक्त्यनुशासन, श्लोक ६२

जिसमें सबका उदय हो वही सर्वोदय है। तीर्थंकर महावीर ने जिस सर्वोदय तीर्थ का प्रणयन किया, उसके जिस धर्मतत्त्व को लोक के सामने रखा, उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता और सीमा नहीं थी। आत्मधर्म सभी आत्माओं के लिए हैं। धर्म को मात्र मानव से जोड़ना भी एक प्रकार की संकीर्णता है। वह तो प्राणीमात्र का धर्म है। 'मानव धर्म' शब्द भी पूर्ण उदारता का सूचक नहीं है। वह भी धर्म के क्षेत्र को मानव समाज तक ही सीमित करता है जबकि धर्म का संबंध समस्त चेतन जगत से है, क्योंकि सभी प्राणी सुख और शान्ति से रहना चाहते हैं।

तीर्थंकर भगवान महावीर ने प्रत्येक वस्तु की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता प्रतिपादित की है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहाँ तक कि परमपिता परमेश्वर (भगवान) भी उसकी सत्ता का कर्त्ताहर्त्ता नहीं है। जन-जन की ही नहीं, अपितु कण-कण की स्वतंत्र सत्ता की उद्घोषणा तीर्थंकर महावीर की वाणी में हुई। दूसरों के परिणमन या कार्य में हस्तक्षेप करने की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुःख का कारण है; क्योंकि सब जीवों के दुःख-सुख, जीवन-मरण का कर्त्ता दूसरे को मानना अज्ञान है। सो ही कहा है -

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय -
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।।[१]

यदि एक प्राणी को दूसरे के दुःख-सुख और जीवन-मरण का कर्त्ता माना जाय तो फिर स्वयंकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे। क्योंकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, क्या वह हमें सुखी कर सकता है? इसी प्रकार हम अच्छे कार्य करें और कोई व्यक्ति, चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, क्या हमारा बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कार्य करना और बुरे कार्यों से डरना व्यर्थ है, क्योंकि उनके फल को भोगना तो आवश्यक है नहीं? और यदि यह सही है कि हमें अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा तो फिर हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है। इसी बात को अमितगति आचार्य ने इसप्रकार व्यक्त किया है :-

१ आचार्य अमृतचंद्र : समयसार कलश, १६८

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं ददतीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन्।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः,
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्।।[१]

अन्त में ७२ वर्ष की आयु में दीपावली के दिन इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भौतिक देह को त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी दिन उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम को पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई। जैन मान्यतानुसार दीपावली महापर्व भगवान महावीर के निर्वाण एवं उनके प्रमुख शिष्य गौतम को पूर्णज्ञान की प्राप्ति के उपलक्ष्य में ही मनाया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर का जीवन आत्मा से परमात्मा बनने के क्रमिक विकास की कहानी है।

प्रश्न -

१. तीर्थंकर भगवान महावीर का संक्षिप्त जीवन परिचय अपने शब्दों में दीजिए।
२. भगवान महावीर के कितने गणधर थे? नाम सहित बताइये।
३. बालक वर्धमान के गर्भ में आने के पूर्व उनकी माँ ने कितने और कौन-कौन से स्वप्न देखे थे?
४. भगवान महावीर के मुख्य उपदेश क्या-क्या थे?

१ भावना द्वाविंशतिका (सामायिक पाठ), छन्द ३०-३१

पाठ ९ | देवागम स्तोत्र

(आप्तमीमांसा)

तार्किक चक्रचूड़ामणि आचार्य समंतभद्र विक्रम की द्वितीय शताब्दी में महान दिग्गज आचार्य हो गए हैं[१]। वे आद्यस्तुतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। आपने अनेक स्तोत्र लिखे हैं, जिनमें अनेक गंभीर न्याय भरे हुए हैं। 'देवांगम स्तोत्र' भी उनमें एक अद्वितीय स्तोत्र हैं जिसे 'आप्तमीमांसा' भी कहते हैं क्योंकि उसमें आप्त (सच्चे देव) के स्वरूप पर गहरी विचारणा प्रस्तुत की गई है। आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) पर आचार्य समन्तभद्र ने एक 'गंधहस्ति महाभाष्य' नामक भाष्य लिखा था। यह 'देवागम स्तोत्र' तत्त्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण –

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म-भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।

के संदर्भ में लिया गया 'गंधहस्ति महाभाष्य' का मंगलाचरण है।

इस स्तोत्र पर अनेक गंभीरतम विस्तृत टीकाएँ संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं, जिनमें आचार्य अकलंकदेव की आठ सौ श्लोक प्रमाण 'अष्टशती' एवं आचार्य विद्यानन्दि की आठ हजार श्लोक प्रमाण 'अष्ट-सहस्त्री' अत्यन्त गंभीर व प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। इसमें ११४ छन्द हैं। सबको यहाँ देना संभव नहीं है। इनका अर्थ भी अत्यन्त गूढ़ है, उसके विशेष स्पष्टीकरण को भी यहाँ अवकाश नहीं है। अतः उसके आरंभ के १६ छन्द सामान्यार्थ के साथ नमूने के रूप में प्रस्तुत हैं। देवागम स्तोत्र व उसकी टीकाएँ मूल व पठनीय हैं।

इस स्तोत्र का विषय स्तुति की शैली में आप्त के सच्चे स्वरूप की व्याख्या करना है। यह व्यंग के रूप में लिखा गया है। इसके व्यंगार्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानंदि ने लिखा है :-

''मानो भगवान (आप्त) ने साक्षात् समन्तभद्राचार्य से पूछा कि हे समन्तभद्र! आचार्य उमास्वामी ने महाशास्त्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के आदि में हमारा स्तवन अतिशय रहित गुणों से ही क्यों किया, जबकि हममें अनेक सातिशय गुण विद्यमान हैं। इसके उत्तर में समन्तभद्र ने यह 'देवागम स्तोत्र' लिखा।''

१ तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ में आचार्य समन्तभद्र का परिचय दिया गया है, वहाँ से अध्ययन करना चाहिए। परीक्षा में तत्संबंधी प्रश्न पूछे जा सकते हैं।

देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)

देवागमनभोयान –
चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृष्यन्ते
नातस्त्वमसि नो महान्।।१।।

हे भगवन्! आप हमारी दृष्टि में मात्र इसलिये महान नहीं हो कि आपके दर्शनार्थ देवगण आते हैं, आपका गमन आकाश में होता है, और चँवर-छत्रादि विभूतियों से विभूषित हो; क्योंकि ये सब तो मायावियों में भी देखे जाते हैं।।१।।

अध्यात्मं बहिरप्येष
विग्रहादि महोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्व –
प्यस्ति रागादिमत्सु सः।।२।।

इसी प्रकार शरीरादि सम्बन्धी अन्तरंग व बहिरंग अतिशय (विशेषताएँ) यद्यपि मायावियों के नहीं पाये जाते हैं तथापि रागादि भावों से युक्त देवताओं के पाये जाते हैं, अतः इस कारण भी आप हमारी दृष्टि में महान नहीं हो सकते।।२।।

तीर्थकृत्समयानां च
परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति
कश्चिदेव भवेद्गुरुः।।३।।

आगम के आधार एवं धर्मतीर्थ को चलाने वाले होने से भी आपकी महानता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि शास्त्रों को बनाने वाले और संप्रदाय, पंथरूप तीर्थों को चलाने वाले अनेक हैं और उन सबके वचन प्रायः परस्पर विरोधी हैं। परस्पर विरोधी वचनों वाले सब तो आप्त हो नहीं सकते? उनमें से कोई एक ही आप्त होगा।।३।।

दौषावरणयौर्हानि -
निःशैषाऽस्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो
बहिरन्तर्मलक्षयः ।।४।।

हे भगवन्! आपकी महानता तो वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण ही है। वीतरागता और सर्वज्ञता असंभव नहीं है। मोह, राग, द्वेषादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरणों का संपूर्ण अभाव संभव है, क्योंकि इनकी हानि क्रमशः होती देखी जाती है। जिस प्रकार लोक में अशुद्ध कनक-पाषाणादि में स्वहेतुओं से अर्थात् अग्नितापादि से अंतर्बाह्य मन का अभाव होकर स्वर्ण की शुद्धता होती देखी जाती है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगरूप ध्यानाग्नि के ताप से किसी आत्मा के दोषावरण की हानि होकर वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट होना संभव है।।४।।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः
प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादि -
रिति सर्वज्ञसंस्थितिः ।।५।।

परमाणु आदि सूक्ष्म, राग आदिक अन्तरित एवं मेरु आदि दूरवर्त्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। जैसे दूरस्थ अग्नि का हम धूम देखकर अनुमान कर लेते हैं तो कोई उसे प्रत्यक्ष भी जानता है। उसी प्रकार सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं तो कोई उन्हें प्रत्यक्ष भी जान सकता है। इस प्रकार सामान्य से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होती है।।५।।

स त्वमेवासि निर्दोषो
युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते
प्रसिद्धेन न बाध्यते ।।६।।

हे भगवन्! वह वीतरागी और सर्वज्ञ आप ही हो, क्योंकि आपकी वाणी युक्ति और शास्त्रों से अविरोधी है। जो कुछ भी आपने कहा है वह प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध प्रमाणों से बाधित नहीं होता है, अतः आपकी वाणी अविरोधी कही गई है।।६।।

त्वन्मतामृतबाह्यानां
सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां
स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ।।७।।

हे भगवन्! आपके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तमत रूपी अमृत से पृथक् जो सर्वथा एकान्तवादी लोग हैं, वे आप्ताभिमान से दग्ध हैं अर्थात् वे आप्त न होने पर भी 'मैं आप्त हूँ' ऐसा मान बैठे हैं। वस्तुतः वे आप्त नहीं हो सकते, क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है।।७।।

कुशलाकुशलं कर्म्मं
परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु
नाथ स्वपरवैरिषु ।।८।।

हे नाथ! जो लोग एकान्त के आग्रह में रक्त हैं अथवा एकान्तरूपी पिशाच से आधीन हैं, वे स्व और पर दोनों के ही शत्रु (बुरा करने वाले) हैं, क्योंकि उनके मत में शुभाशुभकर्म एवं परलोक आदि कुछ व्यवस्थित सिद्ध नहीं होते हैं।।८।।

भावैकान्ते पदार्थाना -
मभावानामपहवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्त -
मस्वरूपमतावकम्।।९।।

हे भगवन्! पदार्थों का सर्वथा सद्भाव ही मानने पर अभावों का अभाव (लोप) मानना होगा। इस प्रकार अभावों को नहीं मानने से सब पदार्थ सर्वात्मक हो जावेंगे, सभी अनादि व अनन्त हो जावेंगे, किसी का कोई पृथक स्वरूप ही न रहेगा; जो कि आपको स्वीकार नहीं है।।९।।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात्
प्राग्भावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य
प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ।।१०।।

प्रागभाव का अभाव मानने पर समस्त काय (पर्यायें) अनादि हो जावेंगे। इसी प्रकार प्रध्वंसाभाव नहीं मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनन्त हो जावेंगे।।१०।।

सर्वात्मकं तदेकं स्या -
दन्याऽपोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न
व्यपदिश्येत सर्वथा।।११।।

यदि अन्योन्याभाव को नहीं मानेंगे तो दृश्यमान सर्व पदार्थ (पुद्गल) वर्तमान में एकरूप हो जावेंगे और अत्यन्ताभाव न मानने पर सर्व द्रव्य त्रिकाल एकरूप हो जाने से किसी भी द्रव्य का व्यपदेश (कथन) भी नहीं बन सकेगा।।११।।

अभावैकान्त पक्षेऽपि
भावापह्नववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न
केन साधनदूषणम्।।१२।।

भाव का सर्वथा अभाव मानने वाले अभावैकान्तवादियों के भी ज्ञान और वचनों की प्रामाणिकता के अभाव में, वे स्वमत की स्थापना और परमत का खण्डन किस प्रकार करेंगे? अतः अभावैकान्त भी ठीक नहीं है।।१२।।

विरोधात्रोभयैकान्तं
स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति -
र्नाऽवाच्यमिति युज्यते।।१३।।

यदि कोई भावैकान्त और अभावैकान्त में प्राप्त दोषों से बचने के लिए उभयैकान्त स्वीकार करे तो भी स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों के मत में, दोनों (भावैकान्त और अभावैकान्त) के परस्पर विरोध होने से दोनों में पृथक्-पृथक् कथित दोष आये बिना नहीं रहेंगे। यदि उक्त परेशानी से बचने के लिए कोई अवाच्यैकान्त स्वीकार करे तो 'अवाच्य' कहने पर वस्तु 'अवाच्य' शब्द से 'वाच्य' हो जावेगी।।१३।।

कथंचित्ते सदेवेष्टं
कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च
नययोगात्र सर्वथा।।१४।।

अतः हे भगवन्! आपका बताया वस्तुस्वरूप कथंचित् सत् (भावस्वरूप), कथंचित् असत् (अभावरूप), कथंचित् उभय (भावाभावरूप), कथंचित् अवक्तव्य, कथंचित् सद्अवक्तव्य, कथंचित् असद्अवक्तव्य और कथंचित् सद्-असद् अवक्तव्य है; पर यह सब सप्तभंग नयों की अपेक्षा से ही है, सर्वथा नहीं।।१४।।

सदैव सर्वं को नेच्छेत्
स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदैव विपर्यासात्र
चैत्र व्यवतिष्ठते।।१५।।

स्वरूपादि चतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव) की अपेक्षा वस्तु के सद्भाव को कौन स्वीकार नहीं करेगा? उसी प्रकार पररूप चतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, और परभाव) की अपेक्षा कौन अभाव को स्वीकार न करेगा? अर्थात् प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार करेगा ही। यदि कोई न करे तो उसके विचारानुसार वस्तुव्यवस्था सिद्ध न होगी।।१५।।

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं
सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्यौत्तराः शेषाः -
स्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः।।१६।।

क्रमार्पण (क्रम से कथन करना) की अपेक्षा से वस्तु उभयरूप (भावाभावरूप) है एवं एक साथ भाव और अभाव को कहने में असमर्थ होने से वस्तु स्याद्अवक्तव्य है। इसके बाद के तीन भंग स्याद् सद् अवक्तव्य, स्याद् असद् अवक्तव्य और स्याद् सदासद् अवक्तव्य को भी अपनी-अपनी अपेक्षा घटित कर लेना चाहिए।।१६।।

प्रश्न -

१. देवागम स्तोत्र एवं उसकी विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

२. निम्नलिखित में परस्पर अन्तर बताइये :-

(क) सामान्य सर्वज्ञसिद्धि और विशेष सर्वज्ञसिद्धि

(ख) भावैकान्त और अभावैकान्त

३. चारों प्रकार के एकान्तों का सयुक्ति निषेध कर स्याद्वाद की सिद्धि कीजिये।